

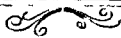


Printed and Published

by—Shrilal Jain Kavyatirth

JAIN SIDDHANT PRAKASHAK PRESS,

9, Varakosha Lane Baghbazar, Calcutta.



प्रकाशकीय वक्तव्य ।



जैन समाजमें प्रापञ्चित लेकर शुद्ध होनेकी पूर्ण दिन पर दिन पंद होती जाती है। लोग अपनी दृष्टिकोणमें न्याय अन्याय सबको न्यायका रूप देकर करणीय सामर्थ्यमें ही चातुरी सम्झते हैं इसलिये ऐसे ग्रंथकी जिसमें मुनि और शुद्ध सबको शुद्ध होनेकी पद्धतिका वर्णन है, प्रकाशित होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। शायद भंडारोंमें इस विषयका कोई हिंदी भाषामय ग्रंथ भवनोत्पन्न करनेमें नहीं आता था इसलिये 'भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था'ने अपने उद्देशानुसार इसको प्रकाशित किया है।

श्रीगोपाल जैनसिद्धांतविद्यालय मुरनाके प्रधानाध्यापक पं० पद्मानाभजी सोनीने इसकी हिंदी टीकाकर संस्थाको अनुमोदित किया है इसके लिये आपको धन्यवाद है। पंडितजीने यह हिंदी वर्णनिका एक संस्कृत टीकाके आधारसे की है जो श्री ऐनक पद्मानाभ सरस्वतीभवन पं०में प्राप्त हुई। इसलिये भवनके संचालकोंको धन्यवाद है, मू० संज्ञाभनमें यद्यपि सावधानी रखी गई है ना भी दृष्टिकोणमें पशुष्टि रह जाना बहुत

कुछ संभव है। अतः जिन महाशयोंको शब्द वा अर्थकी अशुद्धि प्रात हो सके वे अवश्य सूचित करनेकी कृपा करें।

आजसे लगभग दो साल पहिले हम श्रीमद्देवाधिदेव गोम्पटेश्वरके अभिषेक जन्मसे पवित्र होनेके, लिये श्रवणबेल गोला (जैनवट्टी) गये थे उस समय शोलापुर वासी श्री. पृथ्वीराज रावजी सखाराम दोशीकी अनुपतिसे आलंद (शोलापुर) वासी श्री पृथ्वीराज माणिकचंद पोतीचन्दजीने इस ग्रंथके प्रकाशनार्थ पांचसौ रुपये इस शर्तपर देना स्वीकार किया था कि-ग्रंथ प्रकाशित होकर न्योछावर आनेबाद संस्था उन्हें रुपये वापिस भेजदे तदनुसार आपकी सहायता माह्तर यह ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है। उक्त दोनों सेठ साहबोंको कोटिशः धन्यवाद है जिससे मुनि और श्रद्धालु दोनोंको अपनी अपनी शुद्धि होनेका आगमोक्त मार्ग मालूम हो जायगा और वे शुद्ध हो सकेंगे।

मिनी माद्रपद शुद्ध पांचवी ।

निवेदक—

हृदस्पतिवार वीर सं० २४५३ ।

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

पत्रो—भा० जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था

६ विश्वकोषलेन, बापवाजार, कलकत्ता



श्रीयोगरत्नाय नमः ।

मनातन जैनप्रथमाला

२२

श्रीमद्-गुरुदासाचार्यविरचित

प्रायश्चित्त-समुच्चय

(हिंदीटीका सह)



संयमामलमद्रवगभीरोदरमागरान् ।

श्रीगुरुत्नादसद्गुण्डे स्तब्धदक्षिणदक्षे ॥ १ ॥

अर्थ—जो संयमरूप निर्गम और समीचीन रत्नांके अगाध और उदार समुद्र हैं उन श्रीगुरुनादि पंच गुरुओंकी स्तब्धपकी विशुद्धिके सिध्द भक्ति-भावसे नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—जो जिस गुणका उच्छुद्ध होता है वह उसी गुणवानेकी सेवा शुभ्रपा करता है । जैसे पनुष बनानेकी विद्या सीखनेवाला पुरुष उस पनुषविद्याकी जानने और बनानेवाले-

की उपासना करता है । अन्यरुर्धा मगवान् गुरुदास आचार्य भी रत्नत्रयकी विद्युद्धिके इष्टुक हैं । अतः वे रत्नत्रयसे विद्युद् पंच परमेष्ठोको नमस्कार करते हैं । श्रीगुरु नाम पंच परमेष्ठोका है । यह नाम इस व्युत्पत्तिसे सम्बन्ध होता है । श्रीनाम सम्पूर्ण वस्तुओंकी स्थिति जैसी है वैसीको वैसी जाननेमें समर्थ ऐसी परिपूर्ण और निर्मल केवलज्ञानादि लक्ष्मीका है उस लक्ष्मी कर जो संयुक्त हैं वे श्रीगुरु हैं । ऐसे श्रीगुरु तीनकालके विषय-भूत पंच परमेष्ठो ही होते हैं । तथा वे श्रीगुरु रत्नत्रय कर विद्युद् हैं । यदि वे स्वयं रत्नत्रयसे विद्युद् न हों तो भीरेकिनिर् रत्नत्रयकी विद्युद्धिके कारण नहीं हो सकते । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका नाम रत्नत्रय है । संयम नाम सम्यक्चारित्र्यका है वह पांचप्रकारका है । सामायिक, छेदोप-स्थापना, परिहार विद्युद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथारुधात । यह पांचों प्रकारका चारित्र्य सम्यग्ज्ञानपूर्णक होता है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्णक होता है । अतः संयम विशेषणकी सामर्थ्यसे वे रत्नत्रयके गंभीर और उदार समुद्र हैं यह अर्थ सम्बन्ध होता है ॥ १ ॥

भागे शास्त्र-समुद्रकी स्तुति करते हैं—

भावा यत्राभिधीयंते हेयादेयविकल्पतः ।

अप्यतीचारसंशुद्धिस्तं श्रुतान्विमभिष्टुवे ॥ २ ॥

१ । विकल्पितः इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हेय और आदेय भावोंका तथा भतीचारोंकी शुद्धि का जिसमें वर्णन पाया जाता है उस श्रुत—समुद्रको नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—भाव शब्दका अर्थ पदार्थ और परिणाम दोनों हैं । अत्येकके दो ही भेद हैं । हेय और आदेय । यहाँ पर भती-
के भतीचार हेय भाव हैं और भूतना, दृष्टी करना आदि अवश्य करने योग्य आदेय भाव हैं । तथा कवाटोद्घाटन आदि भती गर हैं इन सबका वर्णन श्रुत समुद्रमें पाया जाता है । उसी श्रुत समुद्रकी यहाँ स्तुति की गई है ॥ २ ॥

आगे ग्रन्थका नाय निर्देश करते हैं—

पारंपर्यक्रमायातं रत्नत्रयविशोधनं ।

संक्षेपात् संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तसमुच्चयं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो परंपराके क्रमसे चला आ रहा है, जिसमें रत्न-
त्रयकी विष्टुष्टि पाई जाती है उस प्रायश्चित्त-समुच्चय नाथके
ग्रन्थको संक्षेपमें कहता हूँ ।

प्रायश्चित्तं तपः प्राज्यं येन पापं पुरातनं ।

क्षिप्रं संक्षीयते तस्मात्तत्र यत्नो विधीयतां ॥ ४ ॥

अर्थ—यह प्रायश्चित्त पदा भारी तपधरण है जिससे पहले
किये हुए पाप क्षीप्र नष्ट हो जाते हैं । इसलिये प्रायश्चित्तके
करनेमें अवश्य यत्न करना चाहिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रापक्षित देनेकी विधि भी अवश्य जानना चाहिए ॥ ७ ॥

भाग पंचकल्याणके नाम गिनाते हैं—

स्वस्थानं मासिकं मूलगुणो मूलममी इति ।

पंचकल्याणपर्याया गुरुमासोऽय पंचमः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वस्थान, मासिक, मूलगुण, मूल और पांचवां गुरुमास ये पांच पंचकल्याणके विशेष नाम हैं ।

भावार्थ—पंच आचाम्ब, पंच निर्विकृति, पंचगुहमंडन, पंच एकस्थान और पंच उपवास इनके निरंतर अर्थात् व्यवधानरहित करनेको पंचकल्याण कहते हैं । कल्याणका सत्तुण भाग कहेंगे । पांच कल्याण जहाँ पर हों वहाँ पंचकल्याण है । जिसके ये ऊपर कहे गये पांच पर्याय नाम हैं ॥ ८ ॥

भाग सधुपासका स्वरूप बताते हैं—

नीरसेऽप्यथवाचाम्ले क्षमणे वा विशोधिते ।

ज्ञात्वा पुरुषसत्त्वादि लघुर्वा सान्तरो गुरुः ॥ ९ ॥

अर्थ—पुरुष, उसका सत्व-धर्म, आदि शब्दसे बन, परिणाम आदि जानकर पूर्वोक्त पंचकल्याणमें नीरम अर्थात् निर्विकृति, अथवा आचाम्ब या उपवासको कम कर देना सधुपास है । अथवा पूर्वोक्त पाँचोंको निरंतर करना गुरु-मास है उसी गुरु-मासको व्यवधानरहित करना सधुपास है ।

माचार्य—रसरहित आहारको निर्विहति करने हैं और
 कानिष्ठ—सोबोरसे रहित मोहनको आचाम्न करने हैं । पांच
 आचाम्न, पांच निर्विहति, पांच गुरुपंडित, पांच एकस्थान और
 पांच उपवास इनमेंसे पांच निर्विहति अथवा पांच आचाम्न या
 पांच उपवास कय कर देना अर्थात् इन तीनमेंमें किसी एक कर
 रहित अवशिष्ट चार की लघुमास संज्ञा है । तदुक्तं—

उपवासपंचए वा आयंविलपंचए व गुरुमासादो ।
 निव्ययडिपंचए वा अघणीदे होदि लहुमासं ॥

अर्थात्—गुरुमास अर्थात् पंचकल्याणमसे पांच उपवास,
 अथवा पांच आचाम्न अथवा पांच निर्विहति कय कर देने पर
 लघुमास होता है ।

छेदशास्त्रकी अपेक्षा आचाम्न, निर्विहति, गुरुपंडित और
 एकस्थान इनमेंसे किसी एकको कय कर देने पर लघुमास
 होता है । यथा—

आदीदो चठमज्जे एक्कहरवणियम्मि लहुमासं ।

अर्थात्—छेद शास्त्रके पाठानुसार लमण-उपवासका पाठ
 सबके अन्तमें है उनमेंसे उपवासको छोड़कर अवशिष्ट चारमेंसे
 किसी एकको घटा देना लघुमास है । सबका सारांश यह
 निकला कि इन पांचोंमेंसे किसी एक कर रहित अवशिष्ट चार-
 की लघुमास संज्ञा है । अथवा पंचकल्याणककी व्यवधानसहित
 करना भी लघुमास है ॥ ६ ॥

आगे भिक्षपासका सवञ्च बताते हैं:—

पंचस्वथापनीतेषु भिन्नमासः स एव वा ।

उपवासेस्त्रिभिः षष्ठमपि कल्याणकं भवेत् ॥ १० ॥

अर्थ—एक आचाम्न, एक निर्विकृति, एक पुरुषंदस, एक एकस्थान और एक उपवास ये पाँच कर्म कर देने पर वही ऊपर कहा हुआ गुरुपास भिक्षपास हो जाता है। तथा तीन उपवासोंका एक षष्ठ होता है और कल्याणक भी होता है।

भावार्थ—निर्विकृति, पुरुषंदस, आचाम्न, एकस्थान और छमण इनको एक कल्याण कहते हैं ऐसे पाँच कल्याणोंका एक पंचकल्याण होता है। यथा—

णिन्वियदी पुरिमंदलमायामं एयठाण स्वमणमिदि ।

कल्लाणमेगमेदेहि पंचहि पंचकल्लाणं ॥

इस गाथाका अर्थ ऊपर आ गया है। इन्हीं पंचकल्याणोंमें से एक कल्याण कर्म कर देने पर भिक्षपास हो जाता है अर्थात् चार कल्याणकका एक भिक्षपास होता है अथवा चार आचाम्न, चार निर्विकृति, चार पुरुषंदस, चार एकस्थान और चार छमण इनको भिक्षपास कहते हैं। छठी भोजनकी बेधामें पारणा करना षष्ठ है। अर्थात् एक दिनमें दो मोमनकी बेधा होती है।

१—ठाऊण पुरिममल विसं वययिमायिरत्त' अ ।

एकदिन २ कल्लाणं अवयोदे भिक्षपासा से ।

एकका शरणेके दिन त्याग करना ही दिनामें नाशका त्याग करना और एकका शरणके दिन त्याग करना इस तरहके नौ उपवास करना या छठ भोजनही नवाहा त्याग करना पष्टई तथा निरंतर, एक आनाम्न, एक निर्विकृति, एक पुरुषेन्द्र, एक एकस्थान, और एक उपवास करना कल्याणकर है ॥ १० ॥

आंगे कायोन्मर्ग आर उपवासका प्रधान बताने ॥ -

कायोन्मर्गप्रमाणाय नमस्कारा नवादिताः ।

उपवासस्तनृत्मर्गे भवेद् द्वादशकैः ॥ ११ ॥

अर्थ—नौ पंच नमस्कारोंका एक ही योग्य है नाई के बारह कायात्मर्गोंका एक उपवास होता है ।

भावार्थ—शुभो अरुन्ताण, शुभो मिद्धार, शुभो आट्टयाण, शुभो उवड्भायाण, शुभो नाच नव्वमाहण यह एक पंच नमस्कार है ऐसे नौ पंचनमस्कार एक कायात्मर्ग माने और एक उपवासमें ऐसे ही बारह कायात्मर्ग माने ॥ यथा—
णवपंचणमोक्कारा काउसग्गाम्मि होंति एग्गम्मि ।
एदेहि वारनेहि उववात्तो जायदे एक्को ॥ —छेर्गि

तथा—

एकम्मि विउस्सग्गे णव णवकारा हवन्ति वारमहिं
सयमट्ठोत्तरमेदे हवन्ति उववात्ता जस्स फलं ॥

अर्थात्—एक व्युत्सर्गमें नौ पंचनमस्कार होते हैं। चारह व्युत्सर्गोंमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। इन एक सौ आठ पंच नमस्कारोंके जरनेका फल एक उपवास है। तथा कायोत्सर्गके झोर भी अनन्त भेद हैं। तदुक्त—

चदेवसियं अट्टं सयं पक्षिलय च तिष्ठिण सया ।

चाठम्मासे चउरो सयाणि मंत्रतरे य पंचमया ॥

भाषार्थ—एक सौ आठ पंचनमस्कारोंका देवसिद्ध कायोत्सर्ग होता है या दंबसिद्ध कायोत्सर्गमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। तथा पक्षिकमें तीन सौ, चातुर्पासिकमें चार सौ और सांख्यसिद्धिकमें पांच सौ पंच नमस्कार होते हैं ॥ ११ ॥

आचाम्लेन सपादोनस्तत्पादः पुरुमंडलात् ।

एकस्थानात्तदर्थं स्यादेवं निर्विकृतेरपि ॥ १२ ॥

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् वंजित भाजन करनेसे यह उपवास चतुर्थांश हीन हो जाता है अर्थात् चार हिस्सोंमेंसे एक हिस्सा प्रमाण कम होजाना है—तीन हिस्सामात्र ही भरशिष्ट रह जाता है। भनगारकी भोजन बेलाको पुरुमंडल कहते हैं। इस पुरुमंडलसे यह उपवास चतुर्थांश—चांधे हिस्से बराबर रह जाता है। तथा तीन मुहूर्त तकके भोजनके कालमें, एक ही स्थानमें पैरोंका संचार न कर भोजन करना एकस्थान है। इस एकस्थानके करनेसे यह उपवास आधा ही रह जाता है। और—

निर्विकृति आहारके करनेमे भी उदरान घाया हो रह जाता है।
छेदपिठ और छेदनास्त्रवे भी जेमा हो कहा है । यथा—

आयं विलोमि पादूण स्वमण पुमिं डले तथा पादो ।

एयद्वाने अहं निव्वियडोओ य एमेव ॥

इसका अर्थ ऊपर आ गया है ॥ १२ ॥

अष्टोत्तरशतं पूर्णं यो जपेदपराजितं ।

मनोवाक्कायगुप्तः सन् प्रोपधफलमश्नुते ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिको
धारण कर अपराजित पंचनमस्कार मंत्रको परिपूर्णा एक सौ
आठ बार जपता है वह एक उपवासके फलको पाता है ॥ १३ ॥

षोडशाक्षरविद्यायां स्यात्तदेव शतद्वये ।

त्रिशत्यां षड्वर्णेषु चतसृष्वपि चतुःशते ॥ १४ ॥

अर्थ—सोनेह अक्षर वाले मन्त्रकी दो सौ जाप देने पर
भी एक उपवासका फल होता है । तथा छह अक्षरवाले मंत्रकी
तीस सौ और चार अक्षर वाले मंत्रकी चार सौ जाप देने पर भी

१ । आचार्ये पादोऽनं स्वमणं पुमिं डले तथा पादः ।

एकस्याने अर्थ निर्विकृतौ च एवमेव ॥

षोडशाक्षरविद्यायाः फलं जप्ते शतद्वये

षड्वर्णत्रिशते स्यात्तेश्चतुर्वर्णचतुःशते ॥ १ ॥

एक एक उपवासका फल होता है । 'अरहंत, सिद्ध, आयसिप, ववज्जायासाहु' यह सोमह मन्त्रोंका 'अरहंत सिंसा' यह छह मन्त्रोंका और 'अरहंत' यह चार मन्त्रोंका मन्त्र है ॥ १४ ॥

अकारं परमं बीजं जपेद्यः शतपंचकं ।

प्रोपधं प्राप्नुयात् सम्यक् शुद्धबुद्धिरतंद्रितः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो निमंजबुद्धिवासी पुरुष आनसरहित होता हुआ परमोच्छिष्ट अकार बीजाक्षरको पांच सौ बार अच्छी तरह जपता है वह एक उपवासका फल पाता है । तदुक्त—

पणतीसं सोलसयं उक्थपयं च वण्णवीयाहं ।

एउत्तरमहसयं साहिण् पं (पं) च खमणहं ॥

अर्थ—एक सौ आठ बार जपे हुआ पैंतीस मन्त्रोंका जाप, दोसौ बार जपे हुआ सोमह मन्त्रोंका जाप, तान सौ बार जपे हुआ छह मन्त्रोंका जाप, चार सौ बार जपे हुआ चार बीजाक्षरोंका जाप और पांच सौ बार जपे हुआ पद—एक अकार या ओंकार बीजाक्षरका जाप एक उपवासके लिए होता है ॥ १५ ॥

इति संज्ञापिकाः प्रथमः ॥ १ ॥

प्रतिसेवाधिकार ।

अथम ग्रन्थके अधिकारोंका कथन करते हैं:—

प्रतिसेवा, ततः कालः क्षेत्राहारोपलब्धयः ।

पुमांश्छेदो विपश्चिद्धिर्विधिः पोडात्र कीर्त्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष इस प्रायश्चित्त-समुच्चय नामके अनादिनिश्चय शास्त्रमें छः अधिकारोंका वर्णन करते हैं । पहला प्रतिसेवा नामका अधिकार है जिसमें सन्नित्त, अचिन्त और विश्रद्धावशे आश्रयने दोषोंके मेलन करनेका कथन है । उसके बाद दूसरा कालाधिकार है जिसमें शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकालके आश्रयने प्रायश्चित्त देनेका कथन है । उसके बाद त्रेधाधिकार है जिसमें भिन्न, मनु, मिश्र आदि क्षेत्रोंके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है । चौथा आगसात्त्वद्वि नामका अधिकार है जिसमें उच्छृष्ट, मध्यम और जयन्य आहार प्रातिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका विधान है । उसके बाद पांचवां पुरुषाधिकार है जिसमें ब्रह्म, पुण्य धर्मोंके स्थिर है या अनिश्चि है, आगच्छ है या अनागच्छ है अद्यावु है या अथाद्यावु है इत्यादि पुरुषाश्रित प्रायश्चित्त का कथन है । उसके बाद छठा प्रायश्चित्ताधिकार है जिसमें दण्डकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन है ॥ १६ ॥

उद्देशानुसार पट्टिने प्रतिसेवाका कथन करते हैं,—

निमित्तादनिमित्तान्न प्रतिसेवा द्विधा मता ।

कारणात् षोडशोद्दिष्टा अष्टभंगास्तथेतरे ॥१७॥

अर्थ—निमित्तसे और अनिमित्तसे प्रतिसेवा दो तरहकी मानी गई है । उनमें भी कारणसे सोलह तरहकी कही गई है । इसी तरह अकारणसे आठ भंग होने हैं । भावार्थ—उपसर्ग स्पाधि आदि निमित्तोंको पाकर दोषोंका सेवन करना और इन निमित्तोंके बिना दोषोंका सेवन करना इस तरह प्रतिसेवाके दो भेद हैं । उनमें भी प्रत्येकके अर्थात् निमित्त प्रतिसेवाके सोलह और अनिमित्त प्रतिसेवाके आठ भेद होने हैं ।

सांगंश—कारणकृत प्रतिसेवाके सोलह भंग और अकारणकृत प्रतिसेवाके आठ भंग होने हैं ॥ १७ ॥

सहेतुकः सकृत्कारी सानुवीची प्रयत्नवान् ।

तद्विपक्षा द्विकाः संति षोडशाऽन्योऽन्यताडिताः ॥

अर्थ—सहेतुक—उपसर्गादि निमित्तोंको पा कर दोषोंको सेवन करने वाला १ सकृत्कारी—जिसका एक बार दोषसेवन करनेका स्वभाव है । सानुवीची—अनुवीची नाम अनुश्रुलता का है जो अनुकूलताकर सहित है वह सानुवीची है अर्थात् विचारपूर्णक आगमानुसार पीजने वाला ३ और प्रयत्नवान्—

उच्चारणा है । अनागादकारणकृत, सहृत्कारी, सानुवीची, अक्षयत्नसेवी २ १ १ १ यह दूसरी उच्चारणा, आगादकारणकृत असहृत्कारी सानुवीची अक्षयत्नसेवी १ २ १ १ यह तीसरी उच्चारणा । अनागादकारणकृत असहृत्कारी, सानुवीची अक्षयत्नसेवी २ २ १ १ यह चौथी उच्चारणा । आगादकारणकृत सहृत्कारी असानुवीची अक्षयत्नप्रतिसेवी १ १ २ १ यह पांचवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत, सहृत्कारी, असानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी २ १ २ १ यह छठी उच्चारणा । आगादकारणकृत, असहृत्कारी असानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी १ २ २ १ यह सातवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत, असहृत्कारी, असानुवीची अक्षयत्नप्रतिसेवी २ २ २ १ यह आठवीं उच्चारणा । आगादकारणकृत, सहृत्कारी, सानुवीची अक्षयत्नप्रतिसेवी १ १ १ २ यह नौवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत सहृत्कारी, सानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी २ १ १ २ यह दसवीं उच्चारणा । आगादकारणकृत, असहृत्कारी, सानुवीची अक्षयत्नप्रतिसेवी १ २ १ २ यह ग्यारहवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत असहृत्कारी, सानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी २ २ १ २ यह बारहवीं उच्चारणा । आगादकारणकृत, सहृत्कारी, असानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी १ १ २ २ यह तेरहवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत, सहृत्कारी, असानुवीची, अक्षयत्नप्रतिसेवी २ १ २ २ यह चौदहवीं उच्चारणा । आगादकारणकृत असहृत्कारी असानुवीची अक्षयत्नप्रतिसेवी १ २ २ २ यह पन्द्रहवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत

अनाहूतः, अनाहूतीनी अनाहूतानिनेती १ १ १ १
 मोहननी उवागता । ये सब विनाकर मोहन उवागता १
 है । इनकी वरनाह मीरति इस प्रकार है ।

१ १, १ १,

१ १ १ १, १ १ १ १,

१ १ १ १, १ १ १ १,

१ १, १ १ १ १ १ १, १ १ १ १ १ १ १ १,

अन अनाहूतपणार्थ गाना करने है—

पदमबन्धे अंतगण् आहगण् मं हं मेद् वदिअहमो ।

दोष्णि वि मंतुं पंतं आहगण् मं हं मेद् तद् अहमो ।

अर्थ—आगाहकारणहून और अनागाहकारणहून पर सब
 बात, सहकारि और असहकारि पर द्वितीय अर्थ, मान
 बीबी और अमानुसीनी पर तृतीय अर्थ और अनाहूतानिनेती १
 अनाहूतानिनेती पर चतुर्थ अर्थ है । इनमें से प्रथमतः संवा
 करता है अन्य अर्थ उसी तरह रहने है । इस तरह संवा
 करता हुआ प्रथमतः अंतं अनागाहकारणहून दाहको आ
 हाकर पुनः सौटकर पाने आगाहकारणहूनदाह पर जब आता
 है तब द्वितीयाव सहाकारि को छोड़कर असहकारिमें संवा
 करता है । फिर उस अर्थके वही पर स्थित रहने हुए प्रथमतः
 संवाण करता हुआ अंतं को पहुँच जाना है तब दोनों ही प्रथमतः
 और द्वितीयाव अंतं को पहुँचकर और सौटकर जब आदिकी

माने हैं तब तृतीयाक्ष सानुवीचीको छोड़कर असानुवीचीमें संक्रमण करता है । फिर इस अक्षके यही स्थान रहने हुए प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष दोनों संवरण करते हुए अंतको पहुँच जाते हैं तब तीनोंही अक्ष अंतको पहुँचकर और सौटकर जब आदिस्थानको आते हैं तब चतुर्थ अक्ष प्रथमप्रतिसेवीको छोड़कर अथत्नप्रतिसेवीमें संक्रमण करता है । भावार्थ—भेदोंके परिवर्तनको अक्षसंचार कहने ह. ये आगाद कारणादि भेद पलटते रहने हैं. उन्हींका परिवर्तनका क्रम इस गाथा द्वारा बताया गया है । जिनकी कि उच्चारण ऊपर बताई जा चुकी है । फिर भी स्पष्टार्थ लिखते हैं—

१ आगाद-कारणकृत, सकृद सानुवीची, यत्नसेवी	११११
२ अनागादकारणकृत " " "	२१११
३ आगादकारणकृत असकृत् " "	१२११
४ अनागादकारणकृत " " "	२२११
५ आगादकारणकृत सकृद असानुवीची " "	११२१
६ अनागादकारणकृत " " "	२१२१
७ आगादकारणकृत असकृत् " "	१२२१
८ अनागादकारणकृत असकृत् " "	२२२१
९ आगादकारण कृत सकृद सानुवीची अप्रत्यक्षसेवी	१११२
१० अनागादकारणकृत सकृत् " "	२११२
११ आगादकारणकृत असकृत् " "	१२१२
१२ अनागादकारणकृत " " "	२२

अन्ये रूपं प्रक्षिप' इसके अनुसार एक जोड़े, पांच हुए, इनमें सहकारी और असहकारीका भाग दिया, दो लब्ध भागों और एक बचा। पूर्वोक्त नियमके अनुसार पढ़ना सहकारी समझना चाहिए। फिर लब्ध दोमें एक रूप जोड़नेसे, तीन हुए इनमें सानुगोची और असानुगोचीका भाग दिया एक लब्ध भाग और एक ही बाकी बचा पुनः पूर्वोक्त नियमके अनुसार पढ़ना सानुगोची समझना चाहिए, फिर लब्ध एकमें एक रूप जोड़नेसे दो हुए, इनमें यत्नसेवी और अयत्नसेवीका भाग दिया लब्ध एक भाग और बाकी कुछ नहीं बचा 'शुद्धे सति अनोऽन्ने तिष्ठति' इस नियमके अनुसार अन्नका अयन्नसेवी ग्रहण किया। इस तरह नववी उच्चारणमें आगादकारणक, सहकारि, सानुगोची अयत्नसेवी नामका अक्षर आया। इसी तरह अन्य उच्चारणोंमें अक्षर भी निकालने चाहिए।

आगे उद्दिष्ट विधि कही जाती है—

संठाविऊण रूपं उवारेओ संगुणित्तु सयमाणे ।
अवाणेज्ज अणंकिदयं कुज्जा पट्ठभंतिमं रेव ॥

अर्थ—एक रूप रखकर उसको घेरने ऊपरके प्रकारसे गुण करे और अनंकिदको पश्चिम इस तरह घेर पर्यन्त करे।

भावार्थ—यहाँ जो भेद प्रारण हो उसके आगेके स्थानों की जो संख्या हो वह अनंकिद है। इसे आगाद और अनागादमें

से यदि आगादका ग्रहण हो तो उसमें आंगराने अनंकित सप्तमना । इसी तरह सङ्कृतकारी—सानुवीची—अमानुवीची और यत्नमेरी अयत्नमेरी सप्तमना । किसीने पूछा कि आगादकारणकृतकारी, सानुवीची अयत्नमेरी यह कौनसी है तब प्रथम एक रूप रखिये उसको ऊपरके और अयत्नसेवीका प्रमाण दोसे गुणिये, दो हुए कितको घटाइये, यहां अनंकित कोई नहीं दोनों ही अतः दो ही रहे । फिर इन दो को सानुवीची और का प्रमाण दो स गुणिये, चार हुए, यहां अमानुवीची है अतः चारमेंसे एक घटाइये तब तीन रहे । इन सङ्कृतकारी और असङ्कृतकारीका प्रमाण दोसे गुणिये, छह अनंकित असङ्कृतकारीको घटाइये पांच रहे, पुनः पांचको अनागादकी संगत्या दोसे गुणिये, दश हुए अनंकितको घटाजिये, नौ रहे । इस तरह आगादकारणकृत सङ्कृतकारी सानुवीची अयत्नसेवी नानकी नौवी उच्चारणा सिद्ध होती है यही विधि अन्य उच्चारणाओंके निकालनेमें करनी चाहिए ॥१॥

विशुद्धः प्रथमोऽन्त्योऽपि सर्वथा शुद्धिवर्जितः
भंगाश्चतुर्दशान्ये तु सर्वे भाज्या भवन्त्यमी ॥२॥

अर्थ—इन सोलह मंगोंमेंसे पहला मंग विशुद्ध है—लयाश्चित्तके योग्य है । अन्तका सोलहवां मंग विलकुल अशुद्ध

—गुरु मायश्चित्तके योग्य है । चाकीके चीदह मंग माय्य है—
 पु-गुरु दोनों तरहके हैं मतः छोटे बड़े मायश्चित्तके योग्य हैं ॥

भागादकारणे कश्चिच्छेषाशुद्धोऽपि शुद्ध्यति ।
 वेशुद्धोऽपि पदेः शेषैरनागाढे न शुद्ध्यति ॥२१॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यज्य या अचेतनरूप उपसर्ग पर
 या व्याधिवश दोष सेवन कर लेने पर, शेष असहकारी,
 असानुवीची और अयत्नसेवी पदों कर अशुद्ध होने हुए
 भी, कोई पुरुष शुद्ध हो जाना है अर्थात् वह उस दोषयोग्य
 सप्त मायश्चित्तका पात्र है । तथा कोई पुरुष बिना कारण दोष
 सेवन कर लेने पर शेष सहकारी, सानुवीची और अयत्नसेवी
 पदोंसे शुद्ध होने हुए भी शुद्ध नहीं होता—सप्त मायश्चित्तका
 पात्र नहीं होता ॥ २१ ॥

अथ आठ अनिपिच भंगोंको कहते हैं—

अकारणे सहृत्कारी सानुवीचिः प्रयत्नवान् ।
 तद्विपक्षा द्विका एतेऽप्यष्टावन्योन्यमंगुणाः ॥२२॥

अर्थ—अकारणभंगोंमें सहृत्कारी, सानुवीचि और प्रयत्न-
 वान् इन तीनोंकी सप्त संज्ञा है और इनके विपक्षो असहकारी,
 अमानुवीची और अयत्नप्रवृत्तिसेवीकी द्विक अर्थात् गुरु संज्ञा
 है । ये भी परस्पर गुणा करने पर आठ होने हैं । संतुष्टि
 १ : १ = ८ ॥

अनुसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट भी पहचानेकी तरह निकाल लेना चाहिए । इस तरह इन आठ भंगोंकी संख्या, प्रसार, अनुपरि-
तेन, नष्ट और उद्दिष्ट जानना । पूर्वोक्त निमित्त दोष सोचने
पर आठ ये अनिष्ट दोष कुल बिनाकर चौबीस दोष होने
॥ २२ ॥

अष्टाप्येते न संशुद्धा आद्यः शुद्धतरस्ततः ।
अविशुद्धतरास्त्वन्ये भंगाः सप्तापि सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—ये ऊपर बताये हुए आठों भंग संशुद्ध नहीं हैं अशुद्ध
—बहुत प्रायश्चित्तके योग्य हैं इनमेंका पहला भंग द्वितीय
भंगकी अपेक्षा शुद्ध है—अधु प्रायश्चित्तके योग्य है । इसके
प्रस्तावा वालीके सातों भंग निरंतर अविशुद्धतर हैं—बहुत
प्रायश्चित्तके योग्य हैं ॥ २३ ॥

प्रतिसेवाविकल्पानां त्रयोविंशतिमामृपन् ।
गुरुं लाघवमालोच्य च्छन्दं दद्याद्यथायथं ॥२४॥

अर्थ—प्रतिसेवाके कुछ विकल्प चौबीस हुए । उनमें से
(आगादकारणहृत् सङ्कलारो, सानुशीघ्री, मयत्नप्रतिमेशी)
रहने विकल्पको छोड़कर अवशिष्ट नैर्मल विकल्पोंमें छोटे और
बड़ेका विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४ ॥

द्रव्ये क्षेत्रेऽथ काले वा भावे विज्ञाय सेवनां ।
क्रमशः सम्यगालोच्य यथाप्राप्तं प्रयोजयेत् ॥२५॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको जानकर

५ । पुरुषंदल और एकस्थान यह छठा भंग ६ । पुरुषंदल और क्षमण यह सातवां भंग ७ । आचाम्ल और एकस्थान यह आठवां भंग ८ । आचाम्ल और क्षमण यह नौवां भंग ९ । एक स्थान और क्षमण यह दशवां भंग १० । ये दश द्विसंयोगी भंग हुए । अब त्रिसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति पुरुषंदल और आचाम्ल यह प्रथम भंग १ । निर्विकृति, पुरुषंदल और एकस्थान यह द्वितीय भंग २ । निर्विकृति, पुरुषंदल और क्षमण यह तृतीय भंग ३ । निर्विकृति, आचाम्ल और एकस्थान यह चतुर्थ भंग ४ । निर्विकृति, आचाम्ल और क्षमण यह पंचम भंग ५ । निर्विकृति एकस्थान और क्षमण यह छठा भंग ६ । पुरुषंदल, आचाम्ल और एकस्थान यह सप्तम भंग ७ । पुरुषंदल, आचाम्ल और क्षमण यह आठवां भंग ८ । पुरुषंदल एकस्थान और क्षमण यह नौवां भंग ९ । आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह दशवां भंग १० । ये दश त्रिसंयोगी भंग हुए । अब चतुःसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति, पुरुषंदल, आचाम्ल और एकस्थान यह प्रथम भंग १ । निर्विकृति, पुरुषंदल, आचाम्ल और क्षमण यह द्वितीय भंग २ । निर्विकृति, पुरुषंदल, एकस्थान और क्षमण यह तृतीय भंग ३ । निर्विकृति, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह चतुर्थ भंग ४ । पुरुषंदल, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह पंचम भंग ५ । ये पाँच चतुःसंयोगी भंग हुए । अब पंचसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति

मंडल, छात्रामल एकस्थान और क्षमण यह पांचोंका पिनकर एक भंग । पांच प्रत्येक भंग, दश द्विसंयोगी भंग, दश त्रिसंयोगी भंग, पांच चतुःसंयोगी भंग और एक पंच संयोगी भंग, कुल पिनकर $५ + १० + १० + ५ + १ = ३१$ इकत्तीस भंग हुए । इनको शलाका भी कहते हैं । पहले जो सोलह दोष कह आये हैं उनमें इन इकत्तीस शलाकाओंका विभाग कर प्रायश्चित्त देना चाहिए । प्रथम दोषका पट्नी सलाकाका प्रायश्चित्त और शेष पंद्रह दोषोंका प्रत्येक और मिश्र ऐसी दो दो शलाकाओंका प्रायश्चित्त देना चाहिए । इन निर्विकृति आदि इकतीस शलाकाका रूप प्रायश्चित्तोंको यह प्रस्तार संहृष्टि है ।

१ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २

१ २ २ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ६ ६ ६ ६ ६ ६ ८ ८ ८

इस संहृष्टिमें ऊपर शलाकाओंकी संख्या है और नीचे उन शलाकाओंके अन्तर्गत प्रायश्चित्तोंकी संख्या है । यद्यपि प्रथम दोषको छोड़कर शेष पंद्रह दोषोंकी शलाकाएं समान दो दो हैं तथापि उनके प्रायश्चित्तोंकी संख्या समान नहीं है । दूसरे तीसरे दोषकी शलाकाएं दो दो हैं और प्रायश्चित्त भी दो हैं । चौथेसे आठवां तक शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त चार चार, नौवेंसे तेरहवें तक शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त छह छह, चौदहवें पंद्रहवेंमें शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त आठ आठ तथा सोलहवेंमें शलाका दो और

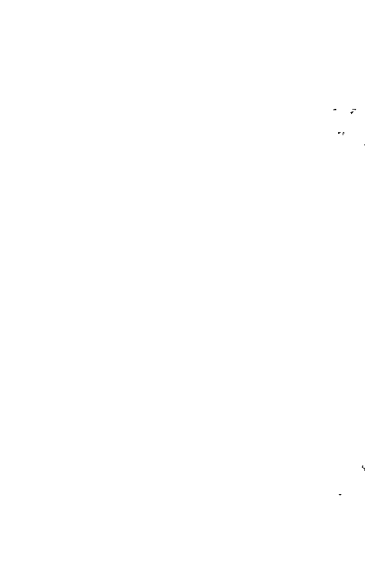
प्राप्यधिक नार्हे । शताकाशोका विभाग करनेवाला यहाँ एक संग्रह श्लोक है उसे कहते हैं ।

आद्यमाद्ये तपोऽन्येषु प्रत्येकं तद्द्वयं ततः ।

आद्ये तत्त्रयमष्टानां तच्चतुष्टयमन्यतः ॥

अर्थ—सोलह दोषोंमेंसे प्रथम दोषका प्राप्यधिक भाग तप अर्थात् प्रथम शनाका है । शेष पंद्रह दोषोंका प्राप्यधिक दो दो तप—दो दो शनाकाएं हैं । तथा आठ दोषोंमेंसे प्रथम दोषका प्राप्यधिक तीन तप—तीन शनाकाएं और शेष सात दोषोंका प्राप्यधिक चार चार तप—चार चार शनाकाएं हैं ।

आगाददि सोलह दोषोंका प्राप्यधिक सामान्यमे कहा गया अब सषु दोष और गुरु दोषका विचार कर आचार्योक्ति उपदेशके अनुसार उत्तर सूत्रके अभिप्रायसे उक्त शताकाशोंमें किसको कौनसा प्राप्यधिक दिया जाता है यह निश्चय करते हैं । आगादकारणहृत्, संहृत्कारी, सानुवीची, मपलसंतेवी प्रथम दोषका प्राप्यधिक आमोचनापात्र है । अनागादकारणहृत्, संहृत्कारी, सानुवीची, मपलसंतेवी द्वितीय दोषका वहा प्राप्यधिक—छह शुद्धिवापी दो शनाकाएं हैं जिनमें एक शनाका तो निरिहृति और क्षमण नापरी नार्हीं द्विसंयोगी और दूसरी निरिहृति, पुरमंडल, आचाम्ना और एकरथान नापरी तन्वीमरी चतु संधागरी है । इस तरह दोनों शताकाशोंके छह प्राप्यधिक द्वितीय दोषका है । आगादकारणहृत्, ...



नुवीची अयत्नसंसेवी आठवे दोपका प्रायश्चित्त चारही और
अठईसवीं शलाका है । पारही शलाका पुरुषंदन और
चमण ऐसे द्विसंयोगी भंगकी और अठईसवीं शलाका निर्वि-
कृति, पुरुषंदन एकस्थान और चमण ऐसे चतुःसंयोगी भंगकी
है । आगादकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसंसेवी
नीचे दोपका प्रायश्चित्त तीसरी और चौथी शलाका है । ये
दोनों शलाकाएं आचाम्न और एकस्थान ऐसे एक एक संयोगी
भंगकी हैं । अनागादकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची,
अयत्नसंसेवी दशवे दोपका प्रायश्चित्त तेवीसवीं और इक्कोसवीं
त्रिसंयोगी शलाकाएं हैं । तेवीसवीं शलाका पुरुषंदन
आचाम्न और चमणकी और इक्कोसवीं शलाका निर्विकृति एक-
स्थान और चमणकी है आगादकारणकृत, असकृत्कारी, सानु-
वीची, अयत्नसंसेवी ग्यारहवे दोपका प्रायश्चित्त आठवीं और
ग्यारहवीं द्विसंयोगी शलाकाएं हैं । आठवीं शलाका निर्विकृति
और एकस्थान और ग्यारहवीं शलाका पुरुषंदन और एक-
स्थानकी है । अनागादकारणकृत असकृत्कारी, सानुवीची,
अयत्नसेवी पारहवे दोपका प्रायश्चित्त अठारहवीं और बीसवीं

१—सोजन वाचीसौरमा, बारस अठवीसिमा, तिथ अठवी । २

अठवीसिमा पचवीससा, अठुमि पचारसी सेव ॥

यही चौड़ा आचार्यसंश्रयका भेद है । यह यह कि दशवे
दोपके ऊपर एहीतही जोर तेईसवीं शलाका बताई गई है और
एत नाचामे चौबीसवीं और पचीसवीं ।

आचाम्न और एकस्थानकी है । अनागादकारणहृत, असकृ-
कत्कारी, असानुवीची और अयत्नसेवी सोलहवें दोपका
मायश्चित्त पांचवीं, उनतीसवीं और इकतीसवीं ये तीन शला-
काएँ हैं । पांचवीं शलाका एकसंयोगी भंगकी है जिसमें
क्षमण है । उनतीसवीं निर्विकृति, आचाम्न, एकस्थान और
क्षमण एवं चतुःसंयोगी भंगकी है और इकतीसवीं शलाका
निर्विकृति, पुरुषंडल, आचाम्न, एकस्थान और क्षमण एवं
पंचसंयोगी भंगकी है । इस तरह सोलह दोपोंमें छोटे बड़े
दोपका विचार कर मायश्चित्त बताया । पहला, तीसरा, पांचवां,
सातवां, नौवां, ग्यारहवां, तेरहवां और पन्द्रहवां ये आठ दोप तो
क्षयु मायश्चित्तके योग्य हैं और शेष दूसरा, चौथा, छठा, आठवां,
दशवां, बारहवां, चौदहवां और सोलहवां ये आठ गुरु मायश्चित्त
के योग्य हैं । संहति—

१ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ ३

• ६ २ ६ ४ ६ ६ ६ २ ६ ४ ६ ४ ६ ६ १०

इस संहतिमें ऊपर मत्पेक दोपकी शलाकाएँ हैं और नीचे
मायश्चित्तोंकी संख्या है । यह इस विषयको स्पष्ट करनेवाला
संग्रह श्लोक है—

१—पंचम इगतीसदिमा इगतीसदिमा य होति सो अस्ये ।

मिहमसह्याना नेषहः १गिदुनिघर्षंयस्त्रोने ।

आद्ये बालोचनान्येषु द्वे द्वे स्यातां शलाकिके ।

आद्यं मुक्त्वा यथायोग्यं प्राग्यद्वादिष्टमष्टसु ॥

अर्थ—प्रथमदोषमें आलोचना प्रायश्चित्त है . . .
दो दो शलाकाएं हैं विशेष इतना है कि सोलहवें दोषमें
शलाकाएं हैं । तथा आठ दोषोंमें पहले दोषको
शेष दोषोंमें पूर्ववत् प्रायश्चित्त समझना । भावार्थ—पहले १
में तीन शलाकाएं और शेष सात दोषोंमें चार . . .
रूप प्रायश्चित्त है ।

जो निष्कारण आठ भंग हैं वे सर्वथा ही अशुद्ध हैं तो
उनमेंका पहला भंग अन्य भंगोंकी अपेक्षा विरुद्धतम है । अन्य
का अविशुद्धतम अर्थात् सबसे अधिक अविशुद्ध है । सकृत्कारी
सानुबोधी, यत्नसेवी प्रथम भंगका प्रायश्चित्त एक संयोगवाली
निर्विकृति, पुरुषंदल और आचाम्न ऐसे पहली दूसरी तीसरी
तीन शलाकाएं हैं । असकृत्कारी, सानुबोधी, प्रयत्नसेवी दूसरे
दोषका प्रायश्चित्त चार शलाकाएं हैं । दो शलाकाएं एकस्थान
और क्षमण ऐसे एकसंयोगकी और दो शलाकाएं निर्विकृति
पुरुषंदल और आचाम्न एकस्थान ऐसे द्विसंयोगकी । ये शला-
काएं चौबीस, पांचवी, छठी और तेरहवीं हैं । सकृत्कारी

१—अट्टपदं आदियणे मिरुत्त सलागाउ तियिण दायव्वा ।

सेसाणं वसत्तारिय पुध पुध ताणं सुणसु ठायं ॥

रसानुवीची यत्नप्रतिसेवी तृतीय दोषका मायक्षिप्त द्विसंयोगकी चार शुभाकार्ण अर्थात् भाउ शुद्धियां हैं । निर्विकृति-आचाम्भ निर्विकृति एकस्थान, आचाम्भ क्षमण और एकस्थान क्षमण । ये शुभाकार्ण क्रमसे सातवीं, भाउवीं, चोदहवीं और पंद्रहवीं हैं । असहृत्कारो, रसानुवीची मयत्नसंसेवी चौथे दोषका मायक्षिप्त द्विसंयोगवाची चार शुभाकार्ण अर्थात् भाउ शुद्धियां हैं निर्विकृति क्षमण, पुरुषंदन आचाम्भ, पुरुषंदन एकस्थान और पुरुषंदन क्षमण । ये शुभाकार्ण क्रमसे नौवीं, दशवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं हैं । सहृत्कारो, रसानुवीची, मयत्नसेवी पांचवें दोषका मायक्षिप्त तीन संयोगवाची चार शुभाकार्ण अर्थात् बारह शुद्धियां हैं । निर्विकृति पुरुषंदन आचाम्भ, निर्विकृति पुरुषंदन क्षमण, पुरुषंदन आचाम्भ क्षमण और आचाम्भ एकस्थान क्षमण । ये शुभाकार्ण क्रमसे सोलहवीं अठारहवीं, सैद्धान्तिकी और पचोत्तवीं हैं । असहृत्कारी, रसानुवीची, मयत्नसेवी छठे दोषका मायक्षिप्त तीन संयोगवाची चार शुभाकार्ण अर्थात् बारह शुद्धियां हैं । निर्विकृति पुरुषंदन एकस्थान,

१ पदम दुरम तद्वत्, अथ पचमिया य द्वाद तेरसमी ।

सप्तम अष्टम सोदसमी वि ष पचणारसी शेष ॥

२ द्वादस एवकारसमी ष बारसमी, तद ष चैव, सोदसमी ।

अष्टारसमी पाचोत्तमी य पचोत्तसमी, शेष ॥

पांचवें दोषके ऊपर तेरसवीं अठारहवीं बारहवीं और दस गायत्री बारहवीं ।

भीरी और इकतीसवीं हैं । इस तरह आठदोषोंकी कुल संज्ञाकारण
कतीस और शुद्धियां अस्सी होती हैं । संदृष्टि—

३ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४

३ ६ ८ ८ १२ १२ १४ १७

यहां भी ऊपर संज्ञाज्ञाओंकी संख्या और नीचे शुद्धियों
की संख्या है ॥ २६ ॥

आलोचनादिकं योग्ये कायोत्सर्गोऽथ सर्वकं ।

तपः आदि कचिद्देयं यथा वक्ष्ये विधिं तथा ॥

अर्थ—योग्य-व्यक्तिके दोषोंका जानकर आलोचना,
मादि शब्दसे प्रतिक्षण, तदुभय, विवेक इनमेंसे एक या दो
या तीन अथवा चारों मायक्षिप्त देवों और कायोत्सर्ग भी देवे ।
अथवा सभी आलोचनादि दश तरहके मायक्षिप्त देवें । तथा
किसी व्यक्ति विशेषको तप, मादि शब्दमें छेद मूल, परिहार
और श्रद्धा ये पांच मायक्षिप्त देवें ॥ २७ ॥

ये सब मायक्षिप्त निस्त विधिते देने चाहिए, उसविधिको
भाग कहने

यदभीक्षणं निषेव्येत परिहर्तुं न याति यत् ।

यदीपञ्च भवेत्तत्र कायोत्सर्गो विशोधनं ॥ २८ ॥

अर्थ—जो निरंतर सेवन करनेमें आते हैं, जो रक्षण
में नहीं आते हैं और जो स्तोक हैं ऐसे दोषोंका मायक्षिप्त काया-
त्सर्ग है । भाषार्थ—चमना-फिरना आदि भी दोष हैं जो निर-

तर करने पड़ते हैं । भोजन पान करना भी दोष ही है । ये दुस्त्याज्य है । सारांश—इन कर्तव्योंके करने पर नामका प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥ २८ ॥

अपमृष्टपरामर्शे कंठृत्याकुंचनादिषु ।

जलखेलादिकोत्सर्गे कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ।

अर्थ—अप्रतिज्ञेखित शरीरादि वस्तुओंसे स्पर्श हो पर, खाज खुजाने हाथ पैर आदिके फेंकाने सिकोड़ने क्रियाके करने पर, और मल, थूक, आदि शब्दसे शरीरिक मल आदिके त्यागने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त गणा है ॥ २९ ॥

तंतुच्छेदादिकं स्तोके संछिष्टे हस्तकर्मणि ।

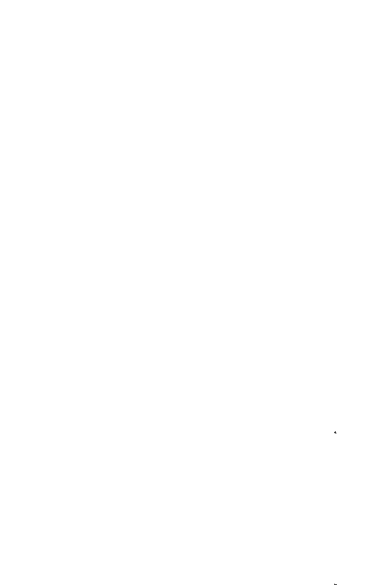
मनोमासिकसेवायां कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ।

अर्थ—तंतु (धागा) तोड़नेका, आदिशब्दसे तृण वगैरे तोड़नेका, मलप संछेद उत्पन्न करनेका, पुस्तक आदिके करनेका हस्तकर्मका और इस उपकरणको इतने दिनों बनाकर तयार करूंगा इस प्रकार मनसे चितवन करने प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ ३० ॥

मृदाथवा स्थिरेर्वज्रैर्हरिद्विस्रसकायकैः ।

संघट्टने विपश्चिद्धिः कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ।

अर्थ—पिटोंसे, स्थिरवीनोंसे और हरे तृण आदिसे



आगाढकारणाद्वन्निहर्निर्वात्यानीयमानकः ।

पंच स्युर्नरिसाहाराः कल्याणं वा प्रमादिनि ॥४२॥

अर्थ—अपियोको यदि उपसर्ग हो या रोग आदि हो इस हेतुमे लाई हुई अग्नि पुष्पा दे ता उसका मायाधिका पाँच नीरस आहार (निर्विकृतियां) अथवा प्रमादवान् पुष्पके निष् एक कल्याणक मायाधित है ॥ ४२ ॥

ग्लानार्थं तापयन् द्रव्यं बन्धिज्वालां यदि स्पृशेत् ।

पंच स्यू रुक्षभक्तानि कल्याणं च मुहुर्मुहुः ॥४३॥

अर्थ—बोषार पुष्पके निमिषा उसका छोर या ओर कोई उपकरण तपावे हुए यदि एक बार अग्निसी ज्ञाना (सी)-का स्पर्शन करे ता उसको श्रुति पंच निर्विकृति आहार है और यदि बार बार स्पर्शन करे ता उसका मायाधिका एककल्याणक है ॥

विभावसोः समारंभं वेद्यादेशाद्यदि स्वयं ।

अनापृच्छ्यातुरं कुर्यात् पंचकल्याणमश्नुते ॥४४॥

अर्थ—यदि बोषारको न पृच्छर केवल रूपके करनेसे स्वयं अपने आप अग्नि जनानेका आरम्भ करे ता वह पंच-कल्याणकको प्राप्त होता है । भावार्थ—इस तरहके आरम्भका मायाधिका पंचकल्याण है ॥ ४४ ॥

विदध्याद् ग्लानमापृच्छ्य वैयावृत्यकरोऽथवा ।
तस्य स्यादेककल्याणं पंचकल्याणमातुरे ॥ ४५ ॥

अर्थ—अथवा वह वैयावृत्य करनेवाला रोगीको
अग्नि जलावे तो उसके लिए एककल्याणक और उस रोगी
लिए पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ४५ ॥

कारणादामलादीनि सेवमानो न दुष्यति ।

विल्वपेण्यादि चाश्नाति शुद्धः कल्याणभाग्य ॥ ४६ ॥
अर्थ—व्याधिके निमित्त आम्र, हरड़ा, बहेरड़ा, आदि
चौजोंका सेवन करनेवाला दोषी नहीं है—निर्दोष है और
विल्वपत्र, आप, करौंदे, बीजपूर (बिजौरा) आदि प्रायः
चौजोंका जो खाता है वह भी निर्दोष है परन्तु जो व्याधिरहित
होने हुए यदि सेवन करता है तो कल्याणक प्रायश्चित्तका भागी
है ॥ ४६ ॥

रसधान्यपुलाकं वा पलांद्दसुरणादिकं ।

कल्याणमश्नुतेऽश्नन्वा मासं कर्कोलकादिकं ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो पुष्प व्याधिरहित होता हुआ यथानाम
(सामानुसार) सेवन करने हुए भी निक्त, कटुक, कषाय,
आम्ल, मधु, कषण इन छह रसोंक और शची, घ्रीही अर्थात्
, आदिका परिमाणमें अधिक सेवन करता है अथवा, मधुन
, कंद, गिणोय आदि अनंतकाय चौजोंका सेवन करता है

यह ब्रह्माण्डको प्राप्त होता है । तथा व्याधिरहित नीरोग होकर इनायची, लींग, जातिफल, जानीपन, गुपारी आदिका सेवन करना है यह पंचकल्याणकको प्राप्त होता है । भावार्थ—
जगत्प्रभवस्यामे अत्यन्त लान्घनताके साथ छोटी तरङ्गके रस और आधार तथा लघुन आदि अनन्तकाय चीजोंके सेवन करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है । तथा नीरोग हास्यमें इनायची, गुपारी आदि चीजोंके गाननेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है ॥

कान्दर्प्यं यन्मृपावादे मिथ्याकारेण शुद्ध्यति ।
अननुज्ञातमंशून्यम्वलादिकमलोज्ज्वलेन ॥ ४९ ॥

अर्थ—कामर्क उन्मत्तताके कारण थोड़ा असत्य बोलने पर 'येग दुष्कृत्य मिथ्या हो' इस तरङ्गके वचनमात्रसे शुद्ध निर्दोष हो जाता है । तथा आगममें निषिद्ध और निर्जन ऐसे त्वनिधान, सेत, ताना, वृत्तांकी जड़ आदि स्थान जहाँ मनान्तर्ग करनेसे लाक नाराज होते हैं वहाँ मनोत्सर्ग करने पर भी मिथ्याका वचनमें शुद्ध हो जाता है ॥ ४९ ॥

जघन्यं तुल्यमूल्येन गृह्णानोऽपि विशुद्ध्यति ।
उत्कृष्टं मध्यमं वाथ गृह्णतो नासिकं भवेत् ॥ ५० ॥

अर्थ—जघन्य, अथवा मध्यम, अथवा उत्कृष्ट चीजोंको जो समान मूल्यमें खरीदता है वह बिना प्रायश्चित्तके शुद्धिको प्राप्त होता है । और यदि चौर डाकू आदिसंसे लेता है तो प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है । भावार्थ—यह मुनियोंके

धिनिरुद्धा ग्रन्थ है अतः यहाँ उन्नीस गीतों का संस्कार करना चाहिये जिनका मुनि पदमे कृष्ण संस्कार है । पाँच दास कर्म, नेत्रजना आदि निगनेन गीतों नग्न्य है । ५१० पट्टी, कर्मद्वय आदि सप्तम गीतों है । सिद्धान्त-गुप्तक उच्छृष्ट गीतों है । ऐसी नग्न्य गीतों नग्न्यमूल्यमें, सप्तम मूल्यमें और उच्छृष्ट उच्छृष्ट मूल्यमें अगस्त उच्छृष्ट और गीतों नग्न्यमूल्यमें और नग्न्य गीतों सप्त मूल्यमें गीतों वहाँ तक विष्ट है । हाँ ! यदि चार दास आदिम ये गीतों तो वह अवश्य दोषी है अतः इस दोषमे उन्मुक्त होनेका शिचत्त पंचकल्याणक है ॥ ५० ॥

तृणपंचकमेवायां स्यान्निर्विकृतिपंचकं ।

दृष्याजिनामनानां च कल्याणं पंचकं सकृत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—शाली, मोठी कोदर, कणु और खक इनको तृण-पंचक कहते हैं इनके सेवन करनेका प्रायश्चित्त पांच निर्विकृति आहार है । तथा वस्त्र पंचक, चर्मपंचक और आसन पंचक एकवार उपभोग करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है । दृष्य, भवार, चुरपट, लोप और वस्त्र ये पांच अथवा अगडज, बोंडज, बालज, बलकज, और गृहज ये पांच पंचक होते हैं । व्यात्र-चर्म, भल्लुकचर्म, हरिणचर्म, पेयचर्म और अजाचर्म ये पांच चर्म पंचक है । तथा लोहासन, दंडासन, मामंदक और पोतक ये पांच आसनपंचक है ॥ ५१ ॥

पंचकेऽप्रतिलेख्यस्य मासः स्यात् सेवने सकृत् ।
 संदंशच्छेदसून्यादिधारणे शुद्ध एव हि ॥ ५२ ॥
 अर्थ—पांच प्रकारके अप्रतिलेख्यके एक बार सेवन करने-
 का प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है । जो शोधनेमें न आवे उसे
 अप्रतिलेख्य कहते हैं । उसकी संख्या पांच है । तथा संदंश
 (संदसी) नखलु, गूई, आदि गन्दसे पत्रवेपनी सचाई आदि
 चीजोंपास रखने पर शुद्ध हो है अर्थात् इनके ग्रहण करनेका
 कोई प्रायश्चित्त नहीं ॥ ५२ ॥

संस्तरस्य निषद्यायास्तदिकाया उपासने ।
 घटीसंपुटपट्टस्य फलकस्य न दृषिका ॥ ५३ ॥
 अर्थ—साथिरा, बैठनेकी चट्टाई, कर्मण्डलू, संपुट (कटोर या
 दोनेके आकारकी वस्तु) आमन और फलक (लकड़ीकी फट्ट या
 तखत) इन चीजोंको काममें लेनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ५३ ॥
 उपधौ विस्मृतेऽप्युन्मैर्मध्यमेऽथ जघन्यके ।

क्षमणं कंजिकाहारं पुरुमंडलमेव च ॥ ५४ ॥
 अर्थ—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संयमोपकरणके विस्मृत कर
 देनेका प्रायश्चित्त क्रममें उपवास, आचाम्य और पुरुषंडच है ॥
 दुःस्थापितोपधेर्नाशे सर्वत्रोत्कृष्टमध्यमे ।
 जघन्ये मासिकं षष्ठं चतुर्थं कंजिकाशनं ॥ ५५ ॥
 अर्थ—अच्छी तरह नहीं रक्खा गया अतएव नष्ट हो



इक्षभक्तं विजीवेऽपि सजीवे पुरुमंडलं ।

आभीक्ष्ण्ये च निघृत्ते च घ्राते पंचकमुच्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—निर्जीव वस्तुको मूँघनेका मायश्चित्त निर्विकृति, जनिताको मूँघनेका पुरुमंडल, और धार धार मूँघनेका और त्याग की हुई वस्तुको मूँघनेका मायश्चित्त कल्याणक है ॥ ७२ ॥

सेवमाने रसान् गृह्य्या पंचकं वा न दोषता ।

शीतवातातपानेवं सेवमानो विशुद्ध्यति ॥ ७३ ॥

अर्थ—रूप, दहि, गुड़ आदि छह तरहके रसोंको ओलुपता पूर्वक सेवन करनेका मायश्चित्त कल्याणक है । यदि ये रस यथाज्ञात मात्रा हों तो उनके सेवनमें कोई दोष नहीं है—अर्थात् उसका कुछ भी मायश्चित्त नहीं है । तथा अनासक्तिपूर्वक हवा, गर्मी और शीतको सेवन करने वाला भी शुद्ध है—मायश्चित्तका भागी नहीं है ॥ ७३ ॥

प्रावारसंस्तरासेवे संवाहे परिमर्दने ।

सर्वांगमर्दने चैवाहेतोः पंचकमंचति ॥ ७४ ॥

अर्थ—ज्याधि आदि कारणोंके बिना, संपत्ती जनके अयोग्य और गृहस्थोंके योग्य वस्त्र ओढ़ने, क्षय्य पर सोने, थपथपी लगवाने, हाथ पैर दबवाने और नैस मातिस कराने पर कल्याणक मायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

शयालुर्दिवसे शेते चेत्कल्याणं समश्नुते ।
अतोऽन्यस्य भवेद्देयो भिन्नमासो विशुद्धये ॥७८॥

अर्थ—जिसका सोनेका स्वभाव पड़ा हुआ है वह यदि दिन-में सो जाय तो कल्याणको प्राप्त होता है अर्थात् उसे कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए । और जिसका स्वभाव सोनेका नहीं है वह यदि दिनमें सो जाय तो उसको उसकी शुद्धिके लिए भिन्नमास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ७८ ॥

हस्तकर्मणि मासाहं गुरो लघुनि पंचकं ।
शुद्धश्च पंचकं मासश्चतुर्मास्यां लघौ गुरो ॥७९॥

अर्थ—एक महीने भरमें बनाकर तयार करनेयोग्य पुस्तक कर्पण्डलु आदि चीजोंको निरंतर बनाता रहे अथवा अमासुक द्रव्यसे बनावे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि लघु अर्थात् स्वाध्याय-व्याख्यानका न छोड़ कर भवकाशके समयमें मासुक वस्तुमें तयार करे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है । तथा यदि चार महीनेमें हस्तकर्म अर्थात् पुस्तक कर्पण्डलु आदि यथा-वसर मासुक द्रव्यमें तयार करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि गुरु अर्थात् स्वाध्याय छोड़कर निरंतर अमासुक द्रव्यमें तयार करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ७९ ॥

पार्श्वस्थानुचरे बाह्यश्रुतिशिक्षणकारणान् ।
करणीकाव्यशिक्षाये मिथ्याकारेऽथ पंचकं ॥८०॥

अर्थ—न्याय, व्याकरण, छंद, परस्कार, कोष आदि,

कर'भाहार ग्रहण करे तो एककल्याणक मायश्चित्तका भागी होता है ॥ ८२ ॥

शब्दाद्वयानकाद्रूपादुत्त्रस्येदंगमाक्षिपेत् ।

मिथ्याकारः स्वनिंदा वा पंचकं वा पलायने ॥ ९३ ॥

अर्थ—भयानक शब्द गुनकर या भावति देखकर बचने लग जाय और शरीर गिर पड़े तो उसका क्रमसे मिथ्याकार और आत्मनिंदा मायश्चित्त है । तथा दूरके पारे भग जाय तो कल्याणक है । भावार्थ—भयानक शब्द गुनकर और भावति देख कर शरीर कपकपाने लग जाय तो 'मिथ्या मे दुष्ट' वेरा दुष्ट मिथ्या हो यह मिथ्याकार बचन उस दोषकी शुद्धिका मायश्चित्त है । और यदि उक्त कारणोंवर शरीर गिर पड़े तो उसकी शुद्धिका उपाय अपनी निंदा कर लेना है । तथा उक्त कारणोंको पाकर भग जाय तो उसका एक कल्याणक मायश्चित्त है । यहां पर दोनां वा शब्द विवक्षार्थक है जो कविद्वयस्याविशेषम ध्वनिचारको सूचन करते हैं अर्थात् व्याधि आदिके वर उक्त दोष लग जाय तो मायश्चित्त नहीं भी है ॥ ८३ ॥

कराद्याकुंचने स्पर्धादायामे पुरुमंडलं ।

उत्क्षेपे पंचकं मासः पापाणस्य लघोर्गुरोः ॥ ९४ ॥

अर्थ—संघर्षणवर हाथ पर आदिका गिकोड़ सेने और पसार देनेका मायश्चित्त पुण्यदत्त है । तथा छोटे पत्थर

प्रक्षालन करे तो उपवास और उष्यन, तैलमें मानिस आदि करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए । यहाँपर 'च' शब्द न कही हुई बातका समुच्चय करता है, इससे यह सम्झना कि अगर बीमार हो तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा नृङ्गार करे तो उसका प्रायश्चित्त आचार्यगण पंचकल्याणक बताते हैं ॥ १०० ॥

सर्वभूरिषु भांडेषु मध्यमेष्वमध्यमेषु च ।

पष्ठं चतुर्थमेवैकस्थितिः सौवीरभोजनं ॥१०१॥

अर्थ—वैयाट्य करनेके लिए जितने भर पात्र लाये जाय उन सबके प्रक्षालन करनेका प्रायश्चित्त एक पष्ठ है । उनमेंसे योडे पात्रोंके उपवास प्रायश्चित्त है । उससे भी पात्रे पान प्राय-

1

2

3 4 5

6 7 8



परिपारण करने आदिका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥११६॥

मेधुने रात्रिभुक्तौ च स्वस्थानं परिकीर्तितं ।

स्त्रियोः संधौ प्रसुप्तस्य मनोरोधान्न दूषणं ॥११७॥

अर्थ—उपसर्गवश मेधुन संवन करने और रात्रिमें भोजन करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक कहा गया है । यह प्रायश्चित्त उसके परिणामोंकी भाँतिका विचार कर देना चाहिए । तथा दो स्त्रियोंके बीचमें साथे हुए साधुके लिए पनको रोकनेके कारण कोई दूषण नहीं है । भावार्थ—ऐसा माना जाता है कि दोनों तरफसे दो स्त्रियाँ सोई हुई हैं और बीचमें आप साया हुआ हो, पर मनमें कोई तरहका विकार भाव उत्पन्न नहीं हुआ हो तो उस साधुके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥११८॥

आवश्यकमकुर्वाणः स्वाध्यायान् लघुमासिकं ।

एकैकं वाग्रलेखायां कल्याणं दंडमश्नुते ॥११९॥

अर्थ—जो साधु साधारण, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रति-
क्षण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक
क्रियार्थोंको और दो स्वाध्याय दिनके और दो रातके एवं चार
तरहके स्वाध्यायोंको न करे तो वह सद्युपास प्रायश्चित्तको प्राप्त
होता है तथा इन छह आवश्यक क्रियार्थोंमेंसे एक एकको न करे
और संतर उपकरण आदिका प्रतिनेखन न करे तो कल्या-
णक प्रायश्चित्तसे प्राप्त होता है ॥ ११९ ॥





शीत उपवास और ग्रीष्मकालमें षष्ठ-दो उपवास निरंतर देने चाहिए । यह तीनों कालोंमें देनेयोग्य मध्यम तप है ॥ १३२ ॥

अब मध्यम तप कितना देना चाहिये यह बताया जाता है—

वर्षाकालेऽष्टमं देयं पष्ठमेव हिमागमे ।

चतुर्य ग्रीष्मकाले स्यात्तप एव लघन्यकं ॥ १३३ ॥

अर्थ—वर्षाकालमें षष्ठ्य-तीन उपवास, शीतकालमें षष्ठ-दो उपवास और ग्रीष्मकालमें चतुर्थ-एक उपवास व्यवधानरहित देने चाहिए । यह तीनों कालोंमें देने योग्य मध्यम तप है ॥

आगे दूसरी तरह कालका और तपका विभाग करते हैं—

अथवा द्विविधः कालो गुरुर्लघुरिति क्रमात् ।

शरद्वसन्ततापाः स्युर्गुरवो लघवः परे ॥ १३४ ॥

अर्थ—अथवा गुरुकाल और लघुकाल इस क्रमसे काल दो प्रकारका है । शरद, वसंत और ग्रीष्म ये तीन गुरुकाल हैं । अवशिष्ट वर्षा शिशिर और हेमन्त ये तीन लघुकाल हैं । भावार्थ—एक वर्षमें छह ऋतुएं होती हैं और बारह महीनेका एक वर्ष होना है तथा दो दो महीनेकी एक एक ऋतु होती है उनके नाम शरद, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर और हेमन्त हैं । भासोज और कार्तिक ये दो महीने शरद ऋतुके, चैत्र और वैशाख ये दो वसंत ऋतुके, ज्येष्ठ और भाषाढ़ ये दो ग्रीष्म ऋतुके, आश्व और भाद्रपद ये दो वर्षा ऋतुके, मगसिर और पूष ये दो

चीषा : मंग होता है । तथा कान गुरु और तप भी गुरु यह पांचवां : मंग होता है । इनकी पूर्ण मस्तार संदष्टि—

१, २-१, २, ३, २,

१, १-२, ३, २, २, यह है ॥ ११५ ॥

इति धीर्देविगुहविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये

कानाधिकारस्तुतीयः ॥ ३ ॥

४-क्षेत्राधिकार ।

अब क्षेत्र अधिकारका कथन करते हैं —

क्षेत्रं नानाविधं ज्ञेयं गणेन्द्रेणाटता भुवं ।

अथवा दशधा क्षेत्रं विज्ञेयं हि समासतः ॥ १३६ ॥

अर्थ—पृथ्वीतल पर विहार करनेवाले आचार्यको क्षेत्रके अनेक भेद जानने चाहिये । अथवा संक्षेपसे क्षेत्र दश प्रकारका समझना चाहिये । भावार्थ—क्षेत्र नाम देशका है । कोई देश आमुक-जीवोंके अधिक संचारसे रहित होते हैं, कोई आमायुक्त-जीवोंके अधिक संचारसे पूर्ण होते हैं । कहीं संपत्ति होते हैं, कहीं नहीं होते । कहीं भित्ति पिचना सुलभ होता है, कहीं दुर्लभ होता है । कहीं लोग मद्रपरिणामी होते हैं, कहीं रौद्रपरिणामी होते हैं इत्यादि देशके अनेक भेद हैं अथवा संक्षेपतः देशके दश भेद हैं ॥ १३६ ॥

किस चेत्रमें कितना मायश्चित्त देना चाहिये यह बताते हैं—

शीतलं यद्भवेद्यत्र रससंसृष्टभोजनं ।

तत्रोत्कृष्टं तपो देयमुष्णे रूक्षे तु हीनकं ॥१३८॥

अर्थ—जो चेत्र ठंडा हो जहाँ पर कि दूध, दही आदि रसों-
के साथ मधुरतासे भोजन खाया जाता हो ऐसे मगध आदि
देशोंमें उत्कृष्ट तप मायश्चित्त देना चाहिये । तथा पारवाड़,
विषय, आनक, पारिपात्र, पाल्ना आदि उष्ण चेत्रोंमें जहाँ पर
कि रूक्ष आहार अधिक मिलता हो वहाँ बहुत थोड़ा मायश्चित्त
देना चाहिये ॥ १३८ ॥

इति श्रीनंदिगुरुविरचिते मायश्चित्तसमुच्चये

क्षेत्राधिकारब्रह्मसूत्रः ॥ ४ ॥

५—आहारलाभाधिकार ।

यत्रोत्कृष्टो भवेद्ग्रामः तत्रोत्कृष्टं तपो भवेत् ।

मध्यमेऽपीपदनं च रूक्षे क्षमणवर्जितं ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिस चेत्रमें उत्कृष्ट आहारलाभ हो जहाँकि सड़ी
मगध पिप्पलाहृष्टि लोग श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त हों, स्निग्ध,
मधुर नाना तरहके अच्छे अच्छे आहार देने हों वहाँ उत्कृष्ट
तपश्चित्त देना चाहिये और जहाँ मध्यम दर्जका साम होता

पुरुष और उसकी शक्ति धैर्य आदि पर भी विचार करना चाहिए इन सबका अच्छी तरह विचार कर मायश्चित्त देना चाहिए ॥ १४० ॥

भाग्य पुरुषको बताने हैं—

अश्राद्धोऽथ मृदुर्गर्वी गीतार्थश्चेतरोऽल्पवित् ।
दुर्बलो नीचसंघातः सर्वपूर्णस्तथार्यिका ॥१४१॥

अर्थ—अश्राद्ध नाम अभिलाष-रुचिका है, वह जिसके हो वह श्राद्ध अर्थात् अश्राद्धवान् है । जो श्राद्ध नहीं अर्द्धारहित है वह अश्राद्ध है । मृदु नाम नम्रका है । गर्वी मानीको कहते हैं । जिसने जीवादि पदार्थ जाने हैं वह गीतार्थ है । इतर नाम अगीतार्थका है, जिसको जीवादि पदार्थोंका ज्ञान नहीं है जो अल्प शास्त्र जानता है वह अल्पवित् है । दुर्बल नाम धनरहित निर्बलका है । जिसके जपन्य संहनन है वह नीचसंघातशाला कहा जाता है । जो सब गुणोंमें समान है वह सर्वपूर्ण है । तथा र्यिका अर्थात् संपत्तिका ये दश पुरुष हैं इनका विचार कर मायश्चित्त देना चाहिए ॥ १४१ ॥

गर्वितो द्विविधो ज्ञेयो दीक्षया तपसा बली ।
छेदेन छेद्यमानोऽपि पर्यायी गर्वितो भवेत् ॥१४२॥

अर्थ—अभिमानि दो तरहका जानना । एक दीक्षाभिमानि और दूसरा तपोभिमानि । जो छेद मायश्चित्त द्वारा दीक्षा

पूर्वदीक्षितको पहले नमस्कार करते हैं और वह पूर्वदीक्षित
उन पश्चाद्वदीक्षितोंको बादमें नमस्कार करता है । छेद आदि
प्रायश्चित्तके देने पर वह पूर्वदीक्षित उन पश्चाद्वदीक्षितोंको
पहले नमस्कार करता है और पश्चाद्वदीक्षित पूर्वदीक्षितको
पीछे नमस्कार करते हैं । ऐसी दशामें वह मृदु परिणामी विचार
करता है कि पश्चाद्वदीक्षित साधुओंने आकर मुझे पहले
नमस्कार किया और मैंने बादमें किया ना किया और यदि
उनको मैंने पहले नमस्कार किया तो किया इसमें पेरी क्या
हानि है ? इस तरह जो अपने मृदु परिणामों द्वारा छेद प्राय-
श्चित्तसे अनिच्छा प्रकट नहीं करता है उसको उपवासादि प्राय-
श्चित्त देना चाहिए । छेद और मूल प्रायश्चित्त नहीं देना
चाहिए ॥ १४४ ॥

प्राज्यं तपो न कुर्वाणः किं शुद्धयेच्छेदमूलतः ।
गुर्वज्ञामात्रतोऽथ हृद्धाने देयं तपस्ततः ॥ १४५ ॥

अर्थ—जो बड़े बड़े उपवासादि तपश्चरण नहीं करता है वह
गुरुकी आज्ञासे प्राप्त केवल छेद और मूलसे क्या निर्दोष होगा ?
इस तरह श्रद्धान न करनेवालेको उपवासादि प्रायश्चित्त देना
चाहिए ॥ १४५ ॥

गीतार्थे स्यात्तपः सर्वं स्थापनारहितोऽपरः ।
छेदो मूलं परीहारे मासश्चाल्पश्रुतेऽपि च ॥ १४६ ॥

अर्थ—गीतार्थ दो तरहका है । एक सापेक्ष और दूसरा निर-

सर्वं तपो बलोपेते धृत्या हीने धृतिप्रदं ।
देहदुर्बलमाश्रित्य लघु देयं द्विवर्जिते ॥ १४८ ॥

अर्थ—शरीर बलमें परिपूर्ण व्यक्तिको आलोचना आदि दण्डों मायाश्रित देने चाहिए । धृतिरहितको धर्म प्रदान करने वाला तब देना चाहिए अर्थात् जिस किसी मायाश्रित को देनेसे हमको पर्ये हो वही मायाश्रित उसे देना चाहिए । शरीरबल रहित पुरुषका जिस मायाश्रित को देनेमें उसका शरीर बल तदवस्थ रहे वही मायाश्रित उसे देना चाहिए । तथा धृतिरहित और शरीर बल रहित व्यक्तिको पहनेसे भी लघु मायाश्रित देना चाहिए ॥ १४८ ॥

अन्त्यसंहननोपेतो बलवानागमान्तगः ।
तस्य देयं तपः सर्वं परिहारेऽपि मूलगः ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो अर्थनारायण संहनन, कोनिकसंहनन और अर्धमास सृष्टाटिकासंहनन इन तीन अन्त्य संहननोंमें से किसी एक संहननसे युक्त है बलवान है और परमागमरूप महा समुद्रका पारगाभी है उसको उपवासादि पणमाय पर्यंतके सभी मायाश्रित देने चाहिए । तथा वह अन्त्य संहननवाला परिहार मायाश्रितके प्राप्त होने पर भी मूल मायाश्रितको प्राप्त होता है ॥

आदिसंहननः सर्वगुणो योऽजितनिद्रकः ।
देयं सर्वं तपस्तस्य पारं चेऽप्यनुपस्थितिः ॥ १५० ॥

अणैरेतैः समग्रोऽसौ जघन्योत्कृष्टमध्यमां ।
ऐराणिकीं गुणश्रेणिं निःशेषामभिपूरयेत् ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त गुणोंमें परिपूर्ण यह अनुपस्थान माय-
त्तवाना जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट चिंतन गुणोंकी सब
तिको पूर्ण करे ॥ १५१ ॥

द्वाद्या ये गुणाः पूर्वमनुपस्थानवर्णिताः ।
पारंचिकेऽपि ते किन्तु कृतकृत्योऽधिमंहतिः ॥

अर्थ—अद्या, प्रति, वैराग्य, परिणामविमुक्ति आदि गुण
जो पहले अनुपस्थापना मायश्चित्तमें कहे गये हैं वे सब पारंपरिक
मायश्चित्तमें भी होते हैं किन्तु इतना बिनाप है कि पर पारंपरिक
मायश्चित्तवाला कृतकृत्य अर्थात् सम्पूर्ण शारीरका ज्ञान और
प्राप्तवाना होता है, निद्राविनशो होता है और अन्न वनस्पति
होता है ॥ १५२ ॥

सर्वगुणसमग्रस्य देयं पारंचिकं भवेत् ।
व्युत्सृष्टस्यापि येनास्याशुद्धभावो न जायते ॥

अर्थ—सब गुणोंमें परिपूर्ण पुरुषको पारंपरिक मायश्चित्त
देना चाहिये । जिससे कि संघटित शरीर कर देने पर भी जिसके
अष्टक भाग न हों ॥ १५३ ॥

पंचदोषोपसृष्टस्य पारंचिकमनूदितं ।

न्युत्सृष्टो विहरेदेप सधर्मरहितक्षितो ॥१५॥

अर्थ—तीर्थकरासादनादि पांच दोषों कर संपुक्त पु
लिए पारंचिक प्रायश्चित्त कहा गया है । तथा संघमें
किया गया यह पारंचिक प्रायश्चित्तशान्ना पुरुष जिस
साधर्म्य नहीं है उस देशमें विहार करे ॥ १५४ ॥

आदिसंहननो धीरो दशपूर्वकृतश्रमः ।

जितनिद्रो गुणाधारस्तस्य पारंचिकं विदुः ॥१६॥

अर्थ—जिसके वज्रवृषभनाराच नामका पहना संहनन
धैर्यवान् है, दशपूर्वका ज्ञाता और व्याख्याता है, निद्रा
है और सम्पूर्ण गुणोंका आधार है उसके पारंचिक प्राय
कहा गया है ॥ १५५ ॥

आर्यायाः स्यात्तपः सर्वं स्थापनापरिवर्जितं

सप्तमासमपि प्राज्यं न पिच्छच्छेदमूलगं ॥१७॥

अर्थ—आर्यिकाको स्थापनारहित सभी प्रायश्चित्त दिये
हैं । तथा सप्तमास प्रायश्चित्त भी आर्यिकाको देवे । यद्यपि

स्वामीके तीर्थमें छह माससे ऊपर उपरासादि प्राय
नहीं हैं तो भी सप्तमाससे अधिक प्रायश्चित्त आर्यिकाको
तथा पिछ छेद और मूल ये तीन प्रायश्चित्त उसको नहीं
चाहिए । भावार्थ—पिछ नाम परिहार प्रायश्चित्तका है व

परिहार मायाश्चित्त करनेवाला मैं परिहार मायाश्चित्त करनेवाला हूँ यह जतानेके लिए भागें पिच्छिका दिखाता है इसलिये परिहार मायाश्चित्तको पिच्छ मायाश्चित्त कहते हैं । छेद नाम दीक्षा छेदनेका है और मून नाम पुनः दीक्षा धारण करनेका है ॥१५६॥

प्रियधर्मा बहुज्ञानः कारणावृत्यसेवकः ।

ऋजुभावो विपक्षेस्तौर्द्विकेर्द्वात्रिंशदाहताः ॥१५७॥

अर्थ—प्रियधर्म—धर्ममें प्रेम रखने वाला, बहुज्ञान—शास्त्रोंका ज्ञान, बहुश्रुत, कारणी—व्याधि उपसर्ग आदि कारणोंके दोषोंका सेवन करनेवाला—सदेतुके, आवृत्यसेवक—एक बार दोष सेवन करनेवाला अर्थात् सकृत्कारी, ऋजुभाव—सरल स्वभावी इन पाँचोंको पाँच स्थानोंमें एक एक भङ्गके आकारमें स्थापना करें । तथा इनके विपक्षी अमियधर्म, अवशुश्रुत, अदेतुक, असकृत्कारी और अनृजुभाव इन पाँचोंको दो दो भङ्गके आकारमें उनके नीचे स्थापन करें । ः ः ः ः ः इस तरह स्थापन कर परस्पर गुणनेसे ३२ भङ्ग हो जाते हैं । यहाँ पर भी पहलेकी तरह संख्या, प्रस्तार, अक्षसंकमण, नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार समझने चाहिये ।

प्रथम संख्याविधि बताने हैं ।

सर्व्वेपि पुण्यभंगा उदारिमभंगसु एकमेकसु ।

मेलंतित्तिय कमसो गुणिये उप्पज्जये संखा ॥

अर्थात् परमे परनेके भंग ऊपर ऊपरके एक एक भंगमें पा

आठ जगह रखे १ १ १ १ १ १ १ १ । इनके ऊपर सङ्कटकारी
और असङ्कटकारीका पिंड दो दो रखे ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ।
इनको जोड़नेसे सोलह होते हैं । पुनः इन सोलहको एक एक
विरसन कर रखे १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ ।
इनके ऊपर अनुभाव और अननुभावका पिंड दो दो रखे
३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ । इनको जोड़नेसे बत्तीस
होते हैं । इस तरह मस्तार रूप स्थापन किये बत्तीस भद्रोंके
व्यवस्था करनेकी विधि कहते हैं । प्रियधर्म, बहुश्रुत, सदेतुक
सङ्कटकारी, अनुभाव यह पहली व्यवस्था १ १ १ १ १ । अमिय-
धर्म, बहुश्रुत, सदेतुक, सङ्कटकारी, अनुभाव २ १ १ १ १ यह
दूसरी व्यवस्था इसी तरह भागकी सब व्यवस्था निकाल लेना
चाहिए जिनका पूर्ण कोष्ठक भाग दिया गया है । मस्तार संदृष्टि
[स प्रकार है—

१।२।३।४।५।६।७।८।९।१०।११।१२।१३।१४।१५।१६।१७।१८।१९।२०।

११२२११२२११२२११२२११२२११२२११२२

11112222111122221111222211112222

१११११११११११११११२३४५६७८९१०१११२

• यहाँ भेदोंका प्रमाण ३२ है और पंक्ति पांच हैं। “भंगापाय-
पाणेन” इस पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार पानी पंक्तिमें एकान्त-
त, दूसरी पंक्तिमें द्वयंतरित, तीसरी पंक्तिमें चतुरंतरित, चौथी
पंक्तिमें षष्ठान्तरित और पांचवी पंक्तिमें षाड्गन्तरित

नौद्वार नव भादि स्थानको आते हैं तब पंचपात अष्टजुभावको छोड़कर अष्टजुभावमें संचार करता है । सो इस प्रकार है—

१ नियधर्म बहुश्रुत संदेतुक सङ्कत्कारी अष्टजुभाव	१	१	१	१	१
२ अमियधर्म " " " "	२	१	१	१	१
३ नियधर्म अवबुधुत " " "	१	२	१	१	१
४ अमियधर्म " " " "	२	२	१	१	१
५ नियधर्म बहुश्रुत अदेतुक " "	१	१	२	१	१
६ अमियधर्म " " " "	०	१	२	१	१
७ नियधर्म अवबुधुत " " "	१	२	२	१	१
८ अमियधर्म " " " "	२	२	२	१	१
९ नियधर्म बहुश्रुत संदेतुक असङ्कत्कारी " "	१	१	१	२	१
१० अमियधर्म " " " "	२	१	१	२	१
११ नियधर्म अवबुधुत " " "	१	२	१	२	१
१२ अमियधर्म " " " "	२	२	१	२	१
१३ नियधर्म बहुश्रुत अदेतुक " "	१	१	२	२	१
१४ अमियधर्म " " " "	२	१	२	२	१
१५ नियधर्म अवबुधुत " " "	१	२	२	२	१
१६ अमियधर्म " " " "	२	२	२	२	१
१७ नियधर्म बहुश्रुत संदेतुक सङ्कत्कारी अष्टजुभाव	१	१	१	१	२
१८ अमियधर्म " " " "	२	१	१	१	२
१९ नियधर्म अवबुधुत " " "	१	२	१	१	२
२० अमियधर्म " " " "	२	२	१	१	२

कोई भी उच्चारणा पूछी उसमें दोषोंका कौनसा भेद है यह मान्य न हो तो इस गाथा द्वारा मान्य कर लिया जाता है। जैसे किसोंने पूछा—पञ्चोत्तरी उच्चारणमें कौनसा अक्षर है तब पञ्चोत्तरी संख्या २५ स्थापनकर प्रियधर्म और अप्रियधर्म २ का भाग दिया बारह लब्ध हुए और एक बाकी बचा। “शेषं अक्षरं जानोहि” इसके अनुसार प्रियधर्म सम्पन्नता चाहिए क्योंकि प्रियधर्म और अप्रियधर्ममें पहला प्रियधर्म है। बारह जो लब्ध आये हैं उसमें “मन्थे रूपं प्रतिप” इसके अनुसार एक पिनाया तरा हुए इनमें बहुश्रुत और अशुश्रुतके प्रमाण दोका भाग दिया छह लब्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला बहुश्रुत ग्रहण किया। फिर लब्ध छहमें एक पिनाया सात हुए इनमें संहतुक और अहंतुका भाग दिया तीन लब्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला संहतुक ग्रहण किया। फिर लब्ध तीनमें एक पिनाया बार हुए इनमें सकृत्कारी और असकृत्कारीके प्रमाण दोका भाग दिया दो लब्ध आये बाकी कुछ नहीं बचा “शुद्धे सति भद्रोऽन्ते निवृत्ति” इसके अनुसार अंतका असकृत्कारी ग्रहण किया। “शुद्धे सति रूपवत्तेषांऽपि न कर्तव्यः” इसके अनुसार मन्थ दोषों एक भी नहीं पिनाया और अननुभाव और अननुभावाका प्रमाण दोका भाग दिया मन्थ एक आया बाकी कुछ नहीं बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार अंतका अननुभाव ग्रहण किया। इस तरह पञ्चोत्तरी उच्चारणमें प्रियधर्म, बहुश्रुत,

सहेतुक, असकृत्कारी और अशुभाव नामका अक्षर
इस तरह अन्य उच्चारणोंके अक्षर भी निकाल लेने चाहिए

आगे उल्लिखित विधि कहते हैं—

संज्ञाविज्ञान रूपं उवरिओ मगुणित्तु मयमाणे ।

अवणिज्ज अणकिदय कुज्जा पढमंतियं चेव ॥

अर्थात् एक रूप रखकर अपने ऊपरके प्रमाणसे गुणा
और अनंकितको घटावे इस तरह मध्यपर्यंत करे । भावार्थ
यहां जो भेद ग्रहण हो उसके आगेकी संख्या अनंकित
जाती है जैसे प्रियधर्म और अप्रियधर्मसे यदि प्रियधर्म
ग्रहण हो तो उसके आगेवाने अप्रियधर्मको अनंकित समझ
चाहिए । इसी तरह बहुश्रुत और अबहुश्रुत, सहेतुक और
अहेतुक, सकृत्कारी और असकृत्कारी तथा शुभाव और अ
शुभावमें भी समझना चाहिए । जैसे किसीने पृष्ठा प्रियधर्म
बहुश्रुत, अहेतुक, असकृत्कारी, शुभाव यह कोनसी उच्चारण
है तब मध्यम एकरूप रक्खा उसको ऊपरके शुभाव और

८३ . प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए अनंकित अ
शुभावको घटाया एक रहे इसको सकृत्कारी और असकृत्कारी
का प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए, यहां अनंकित कोई नहीं
दो ही रहे, इनको सहेतुक और अहेतुकका प्रमाण दोसे गुणा
किया चार हुए अनंकित कोई नहीं, चार ही रहे इनको बहुश्रुत
और अबहुश्रुतका प्रमाण दो से गुणा किया आठ हुए अनंकित

पुरुषाधिकार ।

अथदुश्रुतको घटाया सात रंइ इनका विवरण और प्रति
का प्रमाण दोसे गुणा किया चौदह हुए अनंतिन अधिव
यत्रया नेरद रंइ । इस तरह प्रियधर्म, बहुश्रुत, अहेतुक,
कृन्तारो, अशुभार नापकी नेरद्वी उधारणा सिद्ध होत
यही विधि अन्य उधारणाओंके निराकरणमें भी करनी चा
अथ रत्नकर संग्रहा निकाननेको उद्दिष्ट कहते हैं । पहले नि
कृति, पुरुषद्वय, आचाम्न, एकस्थान और सप्तम इन पांचे
मन्यक शनाका ५, त्रिमयोगी १०, त्रिमयोगी १०, चतुःसंयोगी
और पंचमयोगी १ एवं ३१ शनाकाओंका वर्णन कर आये हैं
इतनीम धुदियां तो ये और एक आनाचना धुदि एवं बत्ती
धुदियां उक्त बत्तीस दापों या पुरुषोंका क्रमसे प्रायश्चित्त है
प्रथम पुरुषकी आनाचना, द्वितीयकी निर्विकृति, तृतीयकी पुरु
षंदन, चतुर्थकी आचाम्न, पंचमकी एकस्थान, छठकी उपरास,
सातवेंकी निर्विकृति और पुरुषद्वय नापका दो संयोगवाली
छठी शनाका धुदि । इस तरह प्रति पुरुषको गुरु और लघु
दोपक्ष विचार कर एक एक शनाका प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥

द्वात्रिंशत्प्रियधर्माद्या अप्याचार्यादिकाः पुनः ।
गर्विताद्या दशोद्दिष्टास्तेभ्यो देयं यथोचितं ॥

अर्थ—प्रियधर्मादि बत्तीस पुरुष ऊपर बता चुके हैं ।
आचार्य आदि आठ पुरुषोंको आगे बतावेंगे तथा गर्वित गुरु
आदि दश पुरुषोंका भी ऊपर बता आये हैं । एवं बत्तीस, आठ

प्रवृत्तिपर ।

सर्वाङ्गजातरोमांचो वैयावृत्यं तपो महत् ।
लाभद्वयं सुमन्वानः श्रेष्ठित्वे पुत्रलाभवत् ॥१६४॥

अर्थ—तथा जिसके माँ सरारमें रोमांच उत्पन्न हो गये हैं,
और जो वैयावृत्य और गुरु तप दोनोंकी प्राप्तिको धनवानके
पुत्र लाभकी तरह अच्छा मानता है वह उभयतर है ।

भावार्थ—धनवानके धन लाभ तो है ही. पुत्र उत्पत्ति हो
जानेमें उसे विशेष रूप होता है उसी तरह जो वैयावृत्य और
तप दोनोंकी प्राप्तिमें यदा रूचि होता है वह उभयतर है ॥१६४॥

वैयावृत्यं समाधत्स्व तपो वेति गणीरितः ।
तत एकतरं धत्ते स्वेच्छयान्यतरः स्मृतः ॥१६५॥

अर्थ—वैयावृत्य करो अथवा तप करो इस प्रकार आचार्यने
कहा । अनन्तर जो पुरुष एकको ना धारण करता है और
दूसरेको अपनी इच्छानुसार धारण करता है वह अन्यतर माना
गया है ॥ १६५ ॥

वैयावृत्यं न यो वोढुं प्रायश्चित्तमपि क्षमः ।
दुर्वलो धृतिदेहाम्यामलब्धिर्नोभयः स तु ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष वैयावृत्य और उपवासादि प्रायश्चित्त धारण
करनेमें सपर्य नही है और धैर्यबल तथा देहबलमें दुर्बल है और
लाभवर्जित है वह अनुभय है ।

वैयावृत्य और

द्विप्रकाराः पुमांमोऽथ सापेक्षा निरपेक्षकाः ।

निरपेक्षकाः ममर्थाः स्युराचार्याद्यास्तथेतरैः ॥

अर्थ—पुरुष दो तरह के होते हैं एक सापेक्ष, जो आचार्योक्ति अनुग्रहकी आकांक्षा रखने है कि आचार्य हम पर अनुग्रह करें । दूसरे निरपेक्ष, जो आचार्योक्ति अनुग्रहकी आकांक्षा नहीं रखने । इनमें निरपेक्ष जो आचार्य आदि हैं वे पुरुष हैं जो ममर्थ—पदाशुक्तिशास्त्री होते हैं । तथा इनके आचार्य दूसरे सापेक्ष होते हैं ॥ १७० ॥

गीतार्थाः कृतकृत्याश्च निरपेक्षा भवन्त्यमी ।

आलोचनादिका, तेषामष्टधा शुद्धिरिष्यते ॥१७१॥

अर्थ—ये निरपेक्ष पुरुष गीतार्थ और कृतकृत्य होते हैं । जो नौ और दश पूर्व भाग हैं उनके गीतार्थ कहने हैं और जिन्होंने नौपूर्व और दशपूर्वका ग्रन्थ और रूप जानकर अनेक बार अनुराध्यायान किया है वे कृतकृत्य कहे जाते हैं । अतः इनके निष् आलोचनापूर्वक आठ प्रकारकी शुद्धि कही गई है ॥

तेऽप्रमत्ताः सदा मतो दोषं जाते कथंचन ।

तत्क्षणादपकुर्वन्ति नियमेनात्ममाक्षिकं ॥ १७२ ॥

अर्थ—वे निरपेक्ष पुरुष सदाकाय अप्रमदरहित होते हैं यदि किसी कारणवश कोई दोष उत्पन्न हो जाता है—

कोऽपि अग्राह्यता जाता है ता व उमा समय आत्मसाक्षात् पूर्णक
उम दापका नियमसे पतनोकार कर लेते हैं ॥ १७२ ॥

धैर्यमंहननोपेताः स्वातंत्र्याद्योगधारिणः ।

तद्धृदि समुत्पन्नं वहन्ति निरनुग्रहं ॥ १७३ ॥

अर्थ—परम धैर्य मात्र उत्तममंहनन ही सहित व परम योगी-
श्वर स्वातंत्र्य रहनके कारण भाग्ये भारी भी उन्मत्त हुए दोष-
को भाग्ये अनुप्राप्ति अपेक्षा किया बिना ही स्वयं दूर कर लेते
हैं ॥ १७३ ॥

आलोचनोपयुक्ता यच्छुद्ध्यन्त्यालोचनात्ततः ।

कृत्वाऽपे च मूलान्तं शुद्ध्यन्ति स्वयमेव ते ॥ १७४ ॥

अर्थ—ता आलोचना—दाप दूर करनेमें उपयुक्त रहते हैं
व नियत पुरुष आलोचना कारण शुद्ध हो जाते हैं । ता भी
व दूसरे भावार्थक्रमणका आदि लेकर मूलपर्यन्त प्रायश्चित्त
अपन आप ग्रहण कर शुद्ध हो जाते हैं ॥ १७४ ॥

यस्य तत्र निरयत्त पुरुषाका वर्णन किया आगे मापेक्षोंका
वैकल्य है—

आचार्यां वृषभां भिक्षुर्गति मापेक्षाम्बिधा ।

गीतार्थो वृषभः सर्गः कृत्यकृत्यंतरो पुनः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मापत्र पुरुष नाम प्रकारके होते हैं । आचार्य, वृषभ-

मथान, और भित्तु—सामान्य साधु । इनमेंसे आचार्य और मथान पुरुष गीतार्थ अर्थात् सकल शास्त्रोंके वंत्ता होते हैं तथा कृत-कृत्य-सम्पूर्ण शास्त्रोंके व्याख्याता भी होते हैं और अकृतकृत्य भी होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता तो होते हैं परन्तु व्याख्याता नहीं होते । भावार्थ—गीतार्थ कृतकृत्य और अकृत-कृत्य ऐसे तीन तीन प्रकारके आचार्य और वृषभ पुरुष होते हैं ॥

गीतार्थश्चेतरो भिक्षुः कृतकृत्येतरस्तयोः ।

आद्यः स्यादपरो द्वेधाधिगतश्चेतरोऽपि च ॥

अर्थ—भित्तु दो तरहका होता है—गीतार्थ और अगीतार्थ । उनमेंसे पहला गीतार्थ दो तरहका है कृतकृत्य और अकृतकृत्य अगीतार्थ भी दो तरहका है—अधिगत और अनधिगत । जो सास्त्रज्ञानसे तो शून्य है परन्तु स्वयं विचारक है उसे अधिगतार्थ कहते हैं और जो केवल गुरुके उपदेश पर ही निर्भर रहता है उसे अगीतार्थ कहते हैं ॥ १७६ ॥

द्विधानधिगताभिरुपः स्यात्स्थिरास्थिरभेदतः ।

अत्राष्टास्वनधिगते वांछेवाऽस्थिरनामनि ॥

अर्थ—स्थिर और अस्थिरके भेदमें अनधिगत परमार्थ दो तरहका है । जो धर्ममें निश्चय है वह स्थिर कहा जाना है और जो चारित्र्यमें समारूपान है वह अस्थिर कहा जाना है । साथे के इन आठ भेदोंमें अस्थिर नामके अनधिगत परमार्थमें

प्रापश्चित्तं है—अर्थात् उस समय बड़ जो चाहे बड़ो प्रापश्चित्त उसे देना चाहिए ॥ १७७ ॥

कल्याकल्पं न जानाति नानिषेवितसेवितं ।
अल्पानल्पं न बुध्येत तेनेच्छाऽबोधनेऽस्थिरे ॥

अर्थ—यह अनगत अस्थिर पुरुष योग्य और अयोग्यको मेव्य और अमेव्यको तथा अल्प दोषाचरणको और बहुत दोषाचरणको नहीं जानता इसलिये उसके लिए इच्छा ही प्राप-
श्चित्त है ॥ १७८ ॥

कर्मोदयवशाद्दोषोऽधिगतेषु भवेद्यदि ।
तेषां स्याद्दशधा शुद्धिरागमाभ्यनुरागतः ॥ १७९ ॥

अर्थ—यदि अधिगत परमार्थ पुरुषोंको कर्मके उदयवश कोई दोष लग जाय तो उनको शुद्धि आगममें अनुराग होनेके कारण आलोचनाका आदि लेकर श्रद्धान पर्यंत दश तरहकी है ॥ १७९ ॥

इति श्रीनन्दिगुणविने प्रापश्चित्तमगुणये

पुराधिकारः षष्ठः ॥ ६ ॥

छेद-अधिकार ॥ ७ ॥

अथ दश मन्त्राणां प्रायश्चित्तं कदा जानात् । मय्य प्राय-
श्चित्तका मन्त्राणां नियमं कदा ज्ञेयः—

प्रायश्चित्तं तपः श्लाघ्यं येन पापं विशुद्ध्यति ।
प्रायश्चित्तं ममाप्नोति तेनोक्तं दशधेह तत् ॥

अथ—प्रायश्चित्तं नामका तपश्चरणं अर्थात् ही श्लाघ्यं तप-
श्चरणं है जिमके कि अनुष्ठानसे हम जन्ममें और पूर्वजन्ममें उपा-
र्जन किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं तथा प्रायः—भोक्त अर्थात्
साधर्म्यरिक्तता चित्त—मन ममम् होता है । इस कारण यह प्राय-
श्चित्त पदं दशमकारका कदा गया है । नदुक्तः—

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।
तच्चित्तप्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

प्रायोनाम भोक्तः अर्थात् साधर्म्यरिक्तता है और चित्तं नाम
मनका है । साधर्म्यरिक्तता मनका प्रदण करनेवाले अर्थात् उनके
मनको ममम् करनेवाले त्रिया-वर्षको साधर्म्यरिक्त रहने है ।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयनं युतं ।
तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥

प्रायो नाम तपसा है और चित्तं नाम निश्चययुक्तरा

निश्चययुक्त तपको प्रायश्चित्त कहते हैं । अथवा माय नाम लोकका है उनका चित्त जिस कर्मके करनेमें है वह प्रायश्चित्त अथवा प्राय नाम अपराधका है और चित्त नाम विद्युद्धि अपराधकी विद्युद्धिकी प्रायश्चित्त कहते हैं ।

यह प्रायश्चित्त प्रमादजनित दोषोंको दूर करनेके लिए मारोंकी अर्थात् संश्लिष्ट परिणामोंकी निर्पन्नताके लिए, अनपराधपरिणामोंकी विचलित करनेवाले दोषोंको दूर करनेके लिए अनपराध अर्थात् अपराधोंकी परंपराका विनाश करनेके लिए प्रतिज्ञात व्यर्थोंका उल्लंघन न हो इसलिये और संयमकी रक्षा के लिए किया जाता है ॥ १८० ॥

प्रायश्चित्त कौन दे ? यह बताने हैं;—

प्रायश्चित्तविधावत्र यथानिष्पन्नमादितः ।

दातव्यं बुद्धियुक्तेन तदेतद्दशधोव्यते ॥ १८१ ॥

अथ—प्रायश्चित्त देना साधारण अनुषंगी कार्य नहीं है । को देनेमें बुद्धिमान पुरुष ही निपुण है अतः वे पूर्वोक्त विधानों अनुसार आगे कदा जानेवाला दश प्रकारका प्रायश्चित्त दे ॥

आगे दशनकारके प्रायश्चित्तक नाम बताने हैं;—

आलोचना प्रैतिकान्तिद्वयं त्यागो विसर्जनं ।

अपः छेदोऽपि मूलं च परिहारोऽभिरोचनं ॥

अथ—आलोचना, प्रतिकान्तिद्वय, नदुःख, त्याग, विसर्जन, अपः छेद, मूल, परिहार, अभिरोचन ॥

तप, छेद, मून, परिहार और श्रद्धान ये दश मायश्चित्तके भेद हैं ।

१—गुरुके समस्त दशदोष रहित अपने दोष निवेदन करना आलोचना है । ये दश दोष ये हैं—

आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिट्ठं वादरं च मुहमं च ।
उल्लं सदाउल्लियं बहुजणमव्वत्त तरसेवी ॥

आकंपित, अनुपापित, यदृष्ट, वादर, मुहम, उल्ल, उल्ला-
कुनित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना
दोष हैं ।

(१) महापापश्चित्तके मयमे, अल्पमायश्चित्तके निषिन्ना,
उपकरण आदि देकर आचार्यको अपने अनुकूल करना आक-
पित नामका पहला आलोचना दोष है ।

(२) इस समय प्रार्थना की जायगी तो गुरुमहाराज मुक्त
पर अनुग्रह कर थोड़ा मापश्चित्त देंगे ऐसा अनुमानसे भांपकर,
“वे धन्य हैं जो बीर पुरुषों द्वारा आचरण किये गये वल्लष्ट
तपको करते हैं” इस प्रकार महातपस्त्रियोंको स्तुति करते हुए
तपमें अपनी कमजोरी प्रकाशित करना अनुपापित नामका
दूसरा आलोचना दोष है ।

(३) जो दोष दूसरोंने न देखा हो उसे छिपाकर जो
दूसरोंने देखा है उसे कहना तीसरा यदृष्ट नामका
दोष है ।

(४) आनस्य या प्रमादवश अपने सब दोषोंको न जानते हुए सिर्फ स्थूल दोष कहना, अथवा स्थूल दोष कहना और सूक्ष्म दोष छिपा लेना चौथा वाद नामका आलोचना दोष है ।

(५) महादुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे स्थूल दोषको छिपाकर सूक्ष्म दोष कहना सूक्ष्म नामका पांचवां आलोचना दोष है ।

(६) ब्रतोंमें इस प्रकारका अतीचर लग जाय तो उसका प्रायश्चित्त क्या होना चाहिए इस दंगसे गुरुसे पृच्छकर उसके बताये हुए प्रायश्चित्तको करना छटा छत्र नामका आलोचना दोष है ।

(७) पान्तिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक अतीचारोंकी शुद्धिके समय जब भारी मुनिसमुदाय एकत्रित हो और उस समय उनके द्वारा निवेदित आलोचनाओंके कथनका प्रचुर कोलाहल हो रहा हो तब अपने पूर्वदोष कहना सातवां शब्दाकुल नामका आलोचना दोष है ।

(८) गुरुने जा प्रायश्चित्त बताया है वह आगमानुकूल है या नहीं इस तरह संशंकित होकर अन्य साधुओंसे पृच्छना अथवा अपने गुरुने पहले किसीको प्रायश्चित्त दिया हो पश्चात् उन्होंने उस प्रायश्चित्तको किया हो उसीको अपन भी कर लेना बहुजन नामका अठवां आलोचना दोष है ।

(९) कुछ भी प्रयोजन रखकर, अपनेसे ज्ञान अथवा संयम में नीचे साधुको "बड़ेसे बड़ा भी लिया हुआ प्रायश्चित्त विशेष फल देनेवाला नहीं होता" इस प्रकार अपने दोष निवेदन कर

६—अनन्त, अवमोदय, उत्तिपरिसंख्यान, आदि तप करना अथवा उपवास आचाम्ब, एकमुक्ति आदि तप करना तप प्रायश्चित्त है ।

७—निर दीवान सापराध माधुकी दिवस, पक्ष मास आदि के विभागसे दीवान्त्र देना छेद प्रायश्चित्त है ।

८—अपरिपित अपराध पन जाने पर उस दिनसे मेहर मण्णुर्ण दीवान्को नष्ट कर फिर दीवान देना मून प्रायश्चित्त है ।

९—पक्ष, मास आदिको अथवा तत्क मंत्रगे पाठ कर देना परिहार प्रायश्चित्त है ।

१०—सौगत आदि पिण्यापनोंको मास शरुत गियत हुए माधुका पुनः नवीन, तीर्णसे दीवान देना श्रद्धान-उपस्थापना प्रायश्चित्त है ॥ १८२ ॥

करणीयेषु योगेषु छद्मस्यत्वेन मन्मुनेः ।

उपयुक्तस्य दोषेषु शुद्धिरालोचना भवेत् ॥१८३॥

अर्थ—मन्मुने करने योग्य तपोविशेषमें अथवा मन, अथवा अन्तर्यामी अर्थनियोक स्थितमें गहरान होत हुए भी छद्मस्यत्वात् कारण दान भगने पर आलोचना प्रायश्चित्त होता है ॥

मन्त्रोद्धान्तविदागदावीर्याममिति मन्त्रतः ।

यो गुनिव्यप्रमत्तश्च निर्दोषोऽपि च मन्त्रमे ॥१८४॥

आलोचनारगीणामो यारदाशानि नो गुरुं ।

नारदेव स नो शुद्धः समालोच्य विशुद्धयति ॥

आगे प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कब देना चाहिए यह बताते हैं—

मनसावद्यमापन्नो वाचाऽऽमाद्य गुरूनथ ।

उपयुक्तो वधे चापि द्राग्भवेत्तन्निवर्तनं ॥१८८॥

अर्थ—जो मनके द्वारा दुश्चितवनरूप दोषको प्राप्त हुआ हो जिसने वचनोंसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदिको अवज्ञा की हो और जो कायद्वारा लात थप्पड़ आदि मारनेमें प्रवृत्त हुआ हो उसके लिए इस अपराधका प्रायश्चित्त शीघ्र प्रतिक्रमण कर लेना है ॥ १८८ ॥

तत्क्षणोद्वेगयुक्तस्य पश्चात्तापमुपेयुषः ।

स्वयमेवात्मसाक्षि स्यात्प्रायश्चित्तं विशोधनं ॥

अर्थ—जिस क्षणमें दोषरूप परिणत हो उसके अनन्तर ही उद्वेग अर्थात् चतुर्गति संसाररूप अंधकूपमें पतनके भयसे युक्त होने हुए तथा पश्चात्ताप करते हुए उस साधुके लिए स्वयं ही आत्मसाक्षीपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है अर्थात् वह स्वयं इस प्रकार प्रतिक्रमण करे कि हा ! मुझे धिक्कार है, मैंने बड़ा बुरा किया, बेरा, दुष्कृत मिथ्या हो ॥ १८९ ॥

॥ किया भरो छेदघोवातजृम्भणे ।

॥ स्वप्ने विस्मृते वापि प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—बेयादृश्य करना भूलजाने पर, डीक, अपोवायु, और जमाई सेने पर, दुःस्वप्न होने पर तथा साधुओंको

प्रतिदिन औषध आदि देना भूल जाने पर भी प्रतिक्रमण प्राय-
श्चित्त होता है ॥ १६० ॥

आभोगे वाप्यनाभोगे भिक्षाचर्यादिके कचित् ।
कथंचिदुत्थिते दंडे प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥ १९१ ॥

अर्थ—भिक्षार्थ जाना आदि कोई एक क्रियाविशेषके समब
लोगोंने देखा हो या न देखा हो कदाचित् किसी कारणवश
दंडोत्थान (निगके गंड) हो जाने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त
होता है । तदुक्त—

गोयरगयस्मै लिङ्गुद्वाणे अण्णस्स सकिलेमे य ।
णिदणगरहणजुत्तो णियमो वि य होदि पडिकमणं ॥

अर्थात् भिक्षार्थ लिए प्रवृत्त हुए साधुका निगोत्थान होजाने
पर और अपने द्वारा अन्यका संबन्ध होने पर अपनी निंदा
और गर्हण युक्त नियम नामका प्रतिक्रमण होता है ॥ १६१ ॥

सूक्ष्मे दोषे न विज्ञाते छद्मस्थत्वेन चागसां ।
अनाभोगकृतानां च विशुद्धिस्तद्व्ययं भवेत् ॥

अर्थ—अत्यन्त सूक्ष्म दोष जो कि छद्मस्थताके कारण
जाननेमें न आया कि यह दोष है, ऐसे दोषको तथा अनाभोग

१ गोवरगतस्य निगोत्थानेऽप्यस्य संबन्धेने च ।

निम्नगर्हणयुक्तो नियमोऽपि च प्रतिक्रमः ॥

आगे प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कब देना चाहिए यह बताते हैं—

मनसावद्यमापन्नो वाचाऽऽसाद्य गुरुनथ ।

उपयुक्तो वधे चापि द्राग्भवेत्तन्निवर्तनं ॥१८८॥

अर्थ—जो मनके द्वारा दुश्चितवनरूप दोषको प्राप्त हुआ हो जिसने वचनोंसे आचार्य, उपाध्याय, पर्वतक, स्यविर, गणधर आदिको अवज्ञा की हो और जो कायद्वारा लात थप्पड़ आदि मारनेमें प्रवृत्त हुआ हो उसके लिए इस अपराधका प्रायश्चित्त शीघ्र प्रतिक्रमण करना है ॥ १८८ ॥

तत्क्षणोद्वेगयुक्तस्य पश्चात्तापमुपेयुपः ।

स्वयमेवात्मसाक्षि स्यात्प्रायश्चित्तं विशोधनं ॥

अर्थ—जिस क्षणमें दोषरूप परिणत हो उसके अनन्तर हो उद्वेग अर्थात् चतुर्गति संसाररूप अंधकूपमें पतनके भयसे युक्त होने हुए तथा पश्चात्ताप करते हुए उस साधुके लिए स्वयं ही आत्मसाक्षीपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है अर्थात् वह स्वयं इस प्रकार प्रतिक्रमण करे कि हा ! मुझे धिक्कार है, मैंने बड़ा बुरा किया, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ १८९ ॥

वैयावृत्यक्रियाभ्रंशे छेदघोवातजृम्भणे ।

दुःस्वप्ने विस्मृते वापि प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करना मूलजाने पर, छींक, अधोवासु, (बाद) और जंमाई सेने पर, दुःस्वप्न होने पर तथा साधुओंको

भक्तपानं विशुद्धं च समादायैषणाहतं ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—एषणादोषोंसे दूषित आसुक भी आहार पानको ग्रहण कर, जितना दूषित है उतनेको या सबके सब सदोष और निर्दोष आहार—पानको छोड़ देने वाला विशुद्ध है—प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—आहार तो आसुक—शुद्ध बना हुआ हो पर वह एषणा दोषोंमें दूषित हो गया हो ऐसे आहार पानके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त उसको छोड़ देना ही है और कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १८६ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च कोटिजुष्टमशुद्धियुक् ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—आसुक भी अन्न पान, क्या यह अन्न पान में ग्रहण करने योग्य है या नहीं? ऐसी भावना से युक्त हो गया हो तो वह अशुद्ध है अतः उतने ही—जितनेमें कि भावना उत्पन्न हुई है अथवा सबके सब सदोष और निर्दोष आहारको ही त्याग देनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—आसुक भी आहारमें यह योग्य है या अयोग्य ऐसी भावना ने पर उस आहारका छोड़ देना ही उसका प्रायश्चित्त है न्य नहीं ॥ १८७ ॥

कृत अर्थात् दोष तो नगे पर जाने नहीं गये ऐसे दोषोंकी
विशुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों हैं ॥ १६२ ॥

दिवसे निशि पक्षेऽन्दे चतुर्मासोत्तमार्थके ।

शौच्यानाभोगकार्येषु पदं यो युक्तयोगिनः ॥

आलोचनोपयुक्तोपि विप्रमादो न वेत्यघं ।

अनिगूहितभावश्च विशुद्धिस्तस्य तद्द्वयं ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो साधु अपना आचरण उचित रीतिसे पालन कर
रहा है, आलोचना करनेमें तत्पर है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें साव-
धान है किन्तु अपने दोषोंको नहीं जानता है तथा अपने भावों-
को भी नहीं छिपाता है उसके—द्वैतिक, रात्रिक, पाक्षिक,
चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थक प्रतिक्रमणोंको
सहसा करनेका और दोष तो नगा पर उसका ज्ञान न हुआ
ऐसे अदृष्ट दोष विशेषके करनेका आलोचना और प्रतिक्रमण
प्रायश्चित्त है ॥ १६३—१६४ ॥

शय्यामथोपाधिं पिंडमादायैषणदूषणं ।

प्राग्विज्ञाय विज्ञाते प्रायश्चित्तं विवेचनं ॥ १९५ ॥

अर्थ—वसंतिका, उपकरण आर आहार, पढ़ने ग्रहण करने
समय शंक्ति आदि एषणके दश दोषोंसे दूषित न जान कर
ग्रहण किये गये हों पश्चात् उसका ज्ञान होने पर उसको छोड़
देना ही प्रायश्चित्त है ॥ १६५ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च समादायैषणाहतं ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—एषणादोषोंसे दूषित प्रामुक्त भी आहार पानको ग्रहण कर, जितना दूषित है उतनेको या सबके सब सद्दोष और निर्दोष आहार—पानको छोड़ देने वाला विशुद्ध है—प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—आहार तो प्रामुक्त—छुट बना हुआ हो पर वह एषणा दापोंसे दूषित हो गया हो ऐसे आहार पानके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त उसको छोड़ देना ही है और कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १२६ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च कोटिजुष्टमशुद्धियुक् ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—प्रामुक्त भी अन्न पान, क्या यह अन्न पान में ग्रहण करने योग्य है या नहीं ? ऐसी आशंका में युक्त हो गया । तो वह अशुद्ध है अन्न उतने ही—जितनेमें कि आशंका त्यज हुई है अथवा सबके सब सद्दोष और निर्दोष आहारको त्याग देनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—प्रामुक्त भी आहारमें यह योग्य है या अयोग्य ऐसी आशंका ने पर उस आहारका छोड़ देना ही उचित है । य नहीं ॥ १२७ ॥

किया हुआ है अथवा पिंडशुद्धिमें देव कानकी अपेक्षा, जिसका लेना निषिद्ध है वह भाजन यदि हाथमें रखवा गया हो, या पात्रमें परोसा गया हो या मुखमें लिया गया हो तो उसका विवेक मायस्थित है ॥ २०० ॥

उत्पथेन प्रयातस्य सर्वत्राभावतः पथः ।

स्तिग्धेन च निशीथाद्धाविवद्यस्वप्नदर्शने ॥ २०१ ॥

अर्थ—चारों दिशाओंमें मार्ग न मिलने पर उन्मार्ग होकर चलनेका, गीने अमायुक्त मार्ग होकर चलनेका या इसी मार्ग बगैरह पर होकर गमन करनेका भाग आधीरात बात जाननेके बाद सुते सपने देखनेका मायस्थित एक कायोन्तर्गह ॥ २०१ ॥

सस्तरस्य वहिर्देशोऽचक्षुषो विषये मृते ।

रात्रौ प्रमृष्टज्यायां यत्नमुसोपवेशने ॥ २०२ ॥

अर्थ—उत्तेज्यमें शयन स्थानका प्रतिनिधित्व कर रात्रियें यत्नपूर्वक साथे आर बैठे हों, पश्चात् सुषोदय होने पर गंधार्गके इधर उधर जहाँ नजर नहीं पड़ना ऐसे पास ही के चलने फिरनेके स्थानमें कोई जोर पड़ा हुआ देखनेमें आये तो उसका मायस्थित कायोन्मर्ग है ॥ २०२ ॥

व्यापन्ने च त्रसे दृष्टे नद्याश्चागाढकारणात् ।

नावा निदोषयोत्तारे कायोन्मर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—घरे हुये घस जात्रोंके देखनेका भाग दूसरोंके चिह्न

तक करना । इसी तरह निर्विकृति और आचाम्न, निर्विकृति और एकस्थान, निर्विकृति और जपवास आदि द्विसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर क्रम सम्पन्ना चाहिए । दो, दो, तीन तीन, चार चार, पांच पांच, छह छह आदि द्विसंयोगी शलाकाओंको करके सामान्य आहार करना निरन्तर द्विसंयोगी शलाकाओंके करनेका क्रम है । उसी तरह त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर छह महीने तक करना चाहिए । एवं षष्ठापवास, (बेला) अष्टमोपवास (तेला) दशमोपवास (चाना) द्वादशोपवास (पचौला) पत्तोपवास, भासोपवास आदि तथा एककल्याण पंचकल्याणक आदि विशेष तर्पोंका संग्रह भी यहाँ पर सम्पन्ना चाहिए । इस तरह यह कल्पव्यवहार प्रायश्चित्तका अभिप्राय है ॥ २१० ॥

अपमृष्टे परामर्शे कंठूत्याकुंचनादिषु ।

जलखेलादिकोत्सर्गे पंचकं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—बिना प्रतिनेखन की हुई वस्तुओंको स्पर्श करनेका, खुजानेका हाथ पैर आदिके संकाचन, पसारने, आदि जेदसे छद्मर्तन परावर्तन आदि क्रियाविशेषके करनेका, तथा स्थानमें मम-मूत्र करने कफ डालने आदिका प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २११ ॥

च करोद्धर्ते जन्धासंपुटवेशने ।

च पंचकं ॥ २१२ ॥

अर्थ—निगता दायते परिपदेन करने पर, जो दोनों जंपामोरे कथ्यमें रत्न पर तथा कटि, ईंट, काष्ठ, मयूर, मस्य गोमय आदि बिना दी हुई चीजोंको तोड़ने-फोड़ने और प्रण करने पर, कल्याणक प्रायश्चित्त होता है ॥ २१२ ॥

तंतुच्छेदादिके स्लोके दन्ताकुल्यादिभिस्तथा ।
इत्यादिकं दिवाऽणीयो गुरुः स्याद्रात्रिसेवने ॥

अर्थ—गुरु तंतु, कृण, काष्ठ आदि वस्तुओंको दन्त-
हंगना आदिग तोड़ने-फोड़नेका एक प्रायश्चित्त है । इन तंतु-
छेदन आदि कृत्योंको दिनमें बड़े मो मधुनर प्रायश्चित्त और
रात्रयमें बड़े मो गुप्तर प्रायश्चित्त होता है ॥ २१३ ॥

प्रायश्चित्तं चरन् ग्लानो रोगादातंकतो भवेत् ।
नीरोगस्य पुनस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—दिये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करता हुआ मुनि
यदि किसी रोगमें या जडग्रून् शिरः गून् आदिके निपित्तो
सोड़ित हो जाय तो उसका नारोग होने पर कल्याणक प्राय-
श्चित्त देना चाहिए ॥ २१४ ॥

प्रायश्चित्तं वहन् सूरः कार्यं संसाधयेत् सुधीः ।
रदेशे स्वदेशे वा दातव्यं तस्य पंचकं ॥ २१५ ॥

अर्थ—उपवास आदि प्रायश्चित्त करता हुआ बुद्धिमान मुनि
निरांको भाकर या स्वदेशमें वा भाकर भाचार्य (गुरु)

तक करना । इसी तरह निर्विकृति और आचाम्न, निर्विकृति और एकस्थान, निर्विकृति और अवसास आदि द्विसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर क्रम समझना चाहिए । दो, दो, तीन तीन, चार चार, पांच पांच, छठ छठ आदि द्विसंयोगी शलाकाओंको करके मामान्य आहार करना निरन्तर द्विसंयोगी शलाकाओंके करनेका क्रम है । इसी तरह त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर छठ महीने तक करना चाहिए । एवं पट्ठापवास, (चेना) अष्टमोपवास (तेज्रा) दशमोपवास (चाना) द्वादशोपवास (पचौना) पत्तोपवास, मासोपवास आदि तथा एककल्याण पंचकल्याणक आदि विशेष तपोंका संग्रह भी यहाँ पर समझना चाहिए । इस तरह यह कल्याणव्यवहार प्रायश्चित्तका अभिप्राय है ॥ २१० ॥

अपमृष्टे परामर्शे कंडूत्याकुंचनादिषु ।
जलखेलादिकोत्सर्गे पंचकं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—बिना प्रतिनेखन की हुई वस्तुओंको स्पर्श करनेका खोज खुजानेका हाथ पेर आदिके संकाचने, पसारने, आदि शब्दसे उद्धर्तन परावर्तन आदि क्रियाविशेषके करनेका, तथा अप्रतिनेखित स्थानमें मल-मूत्र करने कफ ढाबने आदिका कल्याणक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २११ ॥

दंडस्य च करोद्धर्तं जंघासंपुटवेशने ।
कंटकाद्यननुज्ञातभंगादाने च पंचकं ॥ २१२ ॥

अर्थ—निगका हाथसे परिमर्दन करने पर, उसे दोनों जंपाओंके मध्यमें रखने पर तथा काँटे, ईंट, काष्ठ, खपर, भस्म गोप्य आदि बिना दी हुई चीजोंको तोड़ने-फोड़ने और ग्रहण करने पर, कल्याणक प्रायश्चित्त होता है ॥ २१२ ॥

तंतुच्छेदादिके स्तोके दन्ताङ्गुल्यादिभिस्तथा ।

इत्यादिकं दिवाऽणीयो गुरुः स्याद्रात्रिसेवने ॥

अर्थ—गूच्छ तंतु, तृण, काष्ठ आदि वस्तुओंको दन्त-बंगनी आदिमें तोड़ने-फोड़नेका पंचक प्रायश्चित्त है । इन तंतु-च्छेदन आदि कृत्योंकी दिनमें करे तो अष्टोत्तर प्रायश्चित्त और रात्रिमें करे तो गुह्यतर प्रायश्चित्त होता है ॥ २१३ ॥

प्रायश्चित्तं चरन् ग्लानो रोगादातंकतो भवेत् ।

नीरोगस्य पुनस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—दिये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करना हुआ मुनि यदि किसी रोगमें या जठरगूल शिरः गूल आदिके निमित्तमें पीड़ित हो जाय तो उसका नारोग होने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१४ ॥

प्रायश्चित्तं बहन् सूरः कार्यं संसाधयेत् मुधीः ।

परदेशे स्वदेशे वा दातव्यं तस्य पंचकं ॥ २१५ ॥

अर्थ—उपवास आदि प्रायश्चित्त करना हुआ बुद्धिमान मुनि देशान्तरोंको जाकर या स्वदेशमें ही जाकर आचार्य (

का कोई कार्य मायन करे तो उसका कार्यसाधन कर
आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१५ ॥

सालंबो यत्नतोऽध्वानं योऽभिव्रजति संयतः
निस्तीर्णस्य सतस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत्

अर्थ—जो कोई संयत, किसी देव ऋषिके कार्यके
यत्नपूर्वक मार्ग गमन करे-कहीं जाय नो उसको
वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१६ ॥

नखच्छेदादिशस्त्रादि वास्याद्येदंढकादिके ।
लघुगुर्वेकचत्वारः परश्चाद्यैश्च कर्तने ॥ २१७ ॥

अर्थ—नखच्छेदादि नहनी, छुरा, कंचो आदिसे
बगैरइ को छीनने पर लघुमास, शस्त्रादि छुरी खुरपा
से छीनने पर गुरुमास, वास्यादि बमूना आदिसे छीनने
लघुचतुर्मास और परश्चादि कुल्हाड़ी आदिसे टुकड़े कर
गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१७ ॥

एकहस्तोपलाभ्यां च दोभ्यां मौद्गरमौसलात्
लघुगुर्वेकचत्वारः प्रभेदादिष्टकादितः ॥ २१८ ॥

अर्थ—सिर्फ हाथसे इंट लकड़ी आदि चीजोंको तोड़ने
फोड़ने पर एक लघुमास, एक हाथ और पत्थर दोनोंसे
एक हाथमें पत्थर लेकर तोड़ने-फोड़ने पर एक गुरुमास,

का कोई कार्य साधन करे तो उसको कार्यसाधन कर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१५ ॥

सालंबो यत्नतोऽध्वानं योऽभिघ्नजति संयतः ।
निस्तीर्णस्य सतस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—जो कोई संयत, किसी देव ऋषिके कार्यके निमित्त यत्नपूर्वक मार्ग गमन करे-कहीं जाय तो उसको लौटकर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१६ ॥

नखच्छेदादिशस्त्रादि वास्याद्येदंडकादिके ।
लघुगुर्वेकचत्वारः परश्वाद्यैश्च कर्तने ॥ २१७ ॥

अर्थ—नखच्छेदादि नहर्नी, छुरा, कैंची आदिसे लकड़ी बगैरह को छीलने पर लघुमास, शस्त्रादि छुरी खुरपा आदि से छीलने पर गुरुमास, वास्यादि बमूला आदिसे छीलने पर लघुचतुर्मास और परश्वादि कुल्हाड़ी आदिसे टुकड़े करने पर गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१७ ॥

एकहस्तोपलाम्भ्यां च दोभ्यां मौद्गरमौसलात् ।
लघुगुर्वेकचत्वारः प्रभेदादिष्टकादितः ॥ २१८ ॥

अर्थ—मिर्फ हाथसे इष्ट लकड़ी आदि चीजोंको तोड़ने-फोड़ने पर एक लघुमास, एक हाथ और पत्थर दोनोंसे अर्थात् एक हाथमें पत्थर लेकर तोड़ने-फोड़ने पर एक गुरुमास, दोनों

नपुंसकस्य कुत्स्यस्य क्लीबाद्यस्य च दीक्षणे ।
वर्णापरस्य दीक्षायां पण्मासा गुरवः स्मृताः ॥

अर्थ—नपुंसकको, कुष्ठ (कोढ़) ब्रह्महत्या आदि दोषों-
से दूषित पुरुषको, क्लीब—दीनको, आदि शब्दसे अत्यन्त
बालक और अत्यन्त वृद्धको तथा वर्णापर—दासीपुत्रको दीक्षा
देने पर दीक्षादाताको छह गुरुमास प्रायश्चित्त देने चाहिए सो
ही छेदपिठमें कहा है—

अश्वत्थवृद्धदासेरगर्भिणीसंढकारुगादीणं ।
पञ्चज्वा दितस्तु हु छगुरुमासा हवदि छेदो ॥ १ ॥
अतिवालवृद्धदासेरगर्भिणीसंढकारुकादीनां ।
प्रवज्यां ददतः हि पञ्चगुरुमासाः भवति छेदः ॥

अर्थात् अत्यन्त बालक, अत्यन्तवृद्ध, दासीपुत्र, गर्भिणी
स्त्री, नपुंसक, शूद्र आदिको दीक्षा देनेवालेके लिए छह गुरुमास
प्रायश्चित्त है ॥ २२१ ॥

तपोभूमिमतिक्रान्तो न प्राप्तो मूलभूमिकां ।
छेदाहं तपसो भूमिं संप्रपद्येत भावतः ॥ २२२ ॥

अर्थ—जो तपकी योग्यताको उल्लंघन कर गुरु हो और
मूलभूमिको प्राप्त न हुआ हो वह परमार्थमें छेद योग्य तपो
भूमिको प्राप्त होता है । भावार्थ—जो तप प्रायश्चित्तकी योग्यता

लेकर जितना समय दीक्षा का हो चुकता है उसमें काननं विभागसे जितनी दीक्षा छेद दी जाती है उतनी कम हो जाती है अतः उस छेदसे उसका उतना दीक्षाभिमान नष्ट हो जाता है वह छेद एक दिन दो दिन, तीन दिन, पंच, मास आदिकी अवधि पर्यंत होता है ॥ २२४ ॥

साधुसंघं समुत्सृज्य यो भ्रमत्येक एव हि ।
तावत्कालोऽस्य पर्यायिच्छिद्यते समुपेयुषः ॥

अर्थ—जा कोई साधु मुनिसंघका छोड़कर अकेला परिभ्रमण करता रहे तो लौटकर वापिस आने पर उसकी उतनी दीक्षा—जितने काल तक कि वह अकेला घूमता रहा है छेद देना चाहिए ॥ २२५ ॥

सन् यथोक्तविधिः पूर्वमवसन्नः कुशीलवान् ।
पार्श्वस्थो वाय संसक्तो भूत्वा यो विरहत्यभीः ॥
यावत्कालं भ्रमत्येव मुक्तमार्गो निरुत्सुकः ।
तावत्कालोऽस्य पर्यायिच्छिद्यते समुपेयुषः ॥

अर्थ—जा पहले शास्त्रोक्त आचरणको पालता हुआ बाद अवसन्न, कुशील, पार्श्वस्थ और संसक्त होकर यथेष्ट निर्भीकतासे पर्यटन करता रहे । पर्यटन करते करते जब वह लौटकर वापिस आवे तब जितने काल तक वह रत्नत्रयसे रहित और वर्ममें निरुत्सुक होता हुआ भ्रमण करता रहा है उतने कालतक की उसकी दीक्षा छेद दी जाती है ॥ २२६-२२७ ॥

यदि उतने दिनों तक प्रतिदिन पांच पांच, दश दश और पंद्रह पंद्रह गुणों दीक्षा छेद देनी चाहिए ॥ २३० ॥

प्रत्यहं छेदेनं भिक्षोर्दशाहानि परे गणे ।

दशपंच वृषस्यापि विंशतिर्गणिनः पुनः ॥

अर्थ—परगणमें सामान्य साधुके लिए प्रतिदिन दशदिनका प्रधानमुनिके लिए पंद्रह दिनका और आचार्यके लिए बीस दिन का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त है । भावार्थ—कोई सामान्य साधु कन्या करके बिना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न पावे तो दश दिन, दो दिन न पावे तो बीस दिन एवं प्रतिदिन दश दश दिनके हिमायमे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए । तथा प्रधान मुनि कन्या करके बिना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न पावे तो पंद्रह दिन, दो दिन न पावे तो तीस दिन, एवं प्रतिदिन पंद्रह पंद्रह दिनके हिमायमे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए और आचार्य कन्या करके बिना क्षमा पावे प्रतिदिन परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न पावे तो बीस दिन, दो दिन क्षमा न पावे तो चासी दिन एवं प्रतिदिन तीस तीस दिनके हिमायमे उसकी दीक्षा छेद देनी चाहिए ॥ २३१ ॥

इत्यादिप्रतिमेषामुच्छेदः स्यादवमादिकः ।

छेदेनापि च मंथित्याद्यावन्मूलं निरन्तरम् ॥

अर्थ—इत्यादि दोषोंके मारन करने पर इन बारह छेद

प्रायश्चित्त होत है छेद करके भी फिर छेद करे, फिर छेद करे, फिर छेद करे, तो निम्नर छेदने छेदने तर तक छेद करे जब तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त न हो । भावार्थ—कौन कौनसे दोषोंके भगने पर कितने कितने दिनको दीक्षा छेद देना चाहिए यह ऊपर बगन कर पाये है । यह दीक्षा दोषोंके अनु-सार एक दिनको आदि लेकर एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, दस दिन, पक्ष, मास, चतुर्मास, छह मास, वर्ष, दीक्षाका आधा भाग, पना भागका इस तरह छेदते छेदते तर तक छेदो जाय जर तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होजा ॥ २३० ॥

छेदभूमिमतिक्रान्तः परिहारमनापिवान् ।

प्रायश्चित्तं तदा मूलं मंप्रपद्येत भावतः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जो छेद प्रायश्चित्तको योग्यताको तो उल्लंघन कर चुका हो और परिहार प्रायश्चित्त दिये जाने को योग्यताको न पहुँचा हो उस समय वह परमार्थमें मूल-पुनः दीक्षा देना रूप प्रायश्चित्तको प्राप्त होना है । भावार्थ—ऐसा अपराध जो छेद प्रायश्चित्तमें शुद्ध न हो सकना हो और परिहार प्रायश्चित्तके योग्य न हो ऐसा दशम मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३३ ॥

श्रामण्यैकगुणा यस्मादोपात्रस्यन्ति कात्स्न्यतः ।

अष्टव्रतस्य तत्तम्य मूलं स्याद् व्रतरोपणं ॥ २३४ ॥

अर्थ—जिस दोषके सेवनमें यदात्रत विनकुल नष्ट हो गये हो,

ऐसी अवस्थामें महाव्रतोंसे भ्रष्ट उस मुनिको पुनः महाव्रतोंको दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३४ ॥

द्वचचारित्रव्रतभ्रष्टे त्यक्तावश्यककर्मणि ।

अन्तर्वत्नीभुक्तुंसोपदीक्षणे मूलमुच्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—दर्शन, चारित्र और महाव्रतोंसे भ्रष्ट हो जाने पर छह आवश्यक क्रियाएं छोड़ देने पर तथा गर्भिणी और नपुंसकका दीक्षा देनेपर मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उत्सृज्यं वर्णयेत् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति ब्रुवन् ।

यथाच्छंदो भवत्येव तस्य मूलं वितीर्यते ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो आगम विरुद्ध वाचता हो उसे मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा जो सबज्ञ प्रणीत वचनोंको अपनी इच्छानुसार भोगोंको कहता फिरता हो वह स्वेच्छाचारी है अतः उस स्वेच्छाचारीको भी मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । भावाथ—आगम, विरुद्ध बोधनेवाले और सबज्ञ प्रणीत वचनोंका मनमाना अर्थ करनेवाले पुरुषोंके इन अपराधोंकी युद्धि मूल प्रायश्चित्तमें होती है ॥ २३६ ॥

पार्श्वस्थादिचतुर्णां च तेषु प्रव्रजिताश्च ये ।

तेषां मूलं प्रदातव्यं यद्व्रतादि न तिष्ठति ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, वृजोत्त, अवमथ और मृगशरी इन पार्श्वस्थादि चारोंको और जो इनके पाग दीक्षित हुए हैं उनको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि ये सब महाव्रत आदिसे भ्रष्ट हैं ॥

ऐसी अवस्थामें महाव्रतोंमें भ्रष्ट उस मुनिको पुनः महाव्रतोंकी दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३४ ॥

दृक्चारित्रव्रतभ्रष्टे त्यक्तावश्यककर्मणि ।

अन्तर्वत्नीभुक्तुंसोपदीक्षणे मूलमुच्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—दर्शन, चारित्र और महाव्रतोंमें भ्रष्ट हो जाने पर छह आवश्यक क्रियाएं छोड़ देने पर तथा गर्भिणी और नपुंसकको दीक्षा देनेपर मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उत्सूत्रं वर्णयेत् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति श्रुवन् ।

यथाच्छंदो भवत्येष तस्य मूलं वितीर्यते ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो आगम विरुद्ध वाचना हो उसे मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा जो सर्वज्ञ ऋषीन वचनोंको अपनी इच्छानुसार भोगोंको कहना फिरता हो वह स्वच्छाचारी है अतः उस स्वच्छाचारीको भी मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । भावार्थ—आगम विरुद्ध धोमनेवाले और सर्वज्ञ ऋषीन वचनोंका मनमाना अर्थ करनेवाले पुरुषोंके इन अपराधोंकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्तमें होनी है ॥ २३६ ॥

पार्श्वम्यादिचतुर्णां च तेषु प्रव्रजिताश्च ये ।

तेषां मूलं प्रदातव्यं यद्व्रतादि न तिष्ठति ॥

अर्थ—पार्श्वम्य, कुञ्जीन, अरुमन्त्र और मृगशारो इन पार्श्व-व्याधि चारोंको और जो इनके पाग दोषित हुए हैं उनको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि ये सब महाव्रत आदिमें भ्रष्ट हैं ॥

अन्यतीर्थगृहस्थानां कांदर्पाह्लिङ्गकारिणः ।

मूलमेव प्रदातव्यमप्रमाणापराधिनः ॥ २३८ ॥

अर्थ—अन्यनिगियोंको, गृहस्थोंको, उपहास पूर्वक तिग-
धारण करनेवालोंको और अपरिमित अपराधियोंको मूल
मायक्षिप्त ही देना चाहिए । भावार्थ—जो अन्य निगी हो गये
हों और गृहस्थ हो गये हों वे झटकर पुनः संप्रमोद प्राप्ति तो
उन्हें मूल मायक्षिप्त ही देना चाहिए । तथा जिन्होंने परमाधेन
मुनिवेष धारण न कर उपहाससे धारण किया हो और जिनका
अपराध अपरिमित हो उनको भी मूल मायक्षिप्त ही देना
चाहिए ॥ २३८ ॥

इत्यादिप्रतिसेवासु मूलनिर्घोतिनीष्वपि ।

हरिवंश्यादिदीक्षायां मूलं मूलाधिरोहणात् ॥

अर्थ—मूलगुणोंको प्राप्त करनेवाले उपर्युक्त दीक्षोंके
सेवन करने पर तथा चांदाल आदिको दीक्षा देने पर मूल माय-
क्षिप्तकी योग्यता भी उपस्थित होती है अतः मूल मायक्षिप्त
देना चाहिए । भावार्थ—सहायन आदि महाइस मूलगुणोंके
प्राप्तक दीक्षोंके सेवन करने पर मूल मायक्षिप्त देना चाहिए
और चांदालोंको मुनिदीक्षा देनेवाले आचार्यका भी मूलमाय-
क्षिप्त देना चाहिए और जिसका दावा हो जाय उमको संप्रमोद
निवाप्त देना चाहिए ॥ २३९ ॥

मूलभूमिमतिक्रान्तः संप्राप्तः परिहारकं ।

परिहारविधिं प्राज्ञः संप्रपद्येत भावतः ॥ २४० ॥

अर्थ—मूलप्रायश्चित्तकी योग्यताको उल्लंघन कर चुका हो
अर्थात् ऐसा अपराध जो मूल प्रायश्चित्तसे शुद्ध न हो सकता हो
तो वह परिहार प्रायश्चित्तके योग्य दाता है अतः वह बुद्धिमान्
परमार्थसे परिहार प्रायश्चित्तका प्राप्त होता है ॥ २४० ॥

परिहार्यः स संघस्य स वा संघं परित्यजन् ।

परिहारो द्विधा सोऽपि पारंच्यप्यनुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह प्रायश्चित्तभागी पुरुष संघका परिहार्य होता है
अथवा वह संघका परिहार करता है । परिहार प्रायश्चित्तके दो
भेद है एक अनुपस्थान और दूसरा पारंरिक । भावार्थ—
किसी नियत अवधि का निष्पन्न हुए वह प्रायश्चित्तभागी पुरुष
संघसे बाहर कर दिया जाता है अथवा वह संघसे बाहर रहता
है इसीका नाम परिहार प्रायश्चित्त है । अनुपस्थान और पारं-
रिक ये दो उसके भेद हैं ॥ २४१ ॥

शिक्षकेरपि नो यस्य सुश्रूपावन्दनादिकम् ।

अभ्युत्थानं विधीयेत कुर्वतः सोऽनुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह माधु ना अनुपस्थान-प्रायश्चित्तके योग्य दाता है
अपने पश्चात् दान्तिन हुए माधुओंकी सेवा-सुश्रूपा करता है,
उन्हें वन्दना करता है और उन्हें आते देखकर विनयके अर्थ

सन्मुख जाना है परन्तु वे पश्चात् दीक्षित साधु उसकी सेवा सुश्रूषा नहीं करते, उसे नमस्कार नहीं करते और न उसे अति देव्यकर विनयके निमित्त सन्मुख ही जाने हैं । भावार्थ—जिस साधुको अनुपस्थान-प्रायश्चित्त दिया जाता है वह मुनि-परिपक्वसे बत्तीस धनुष-अपाण दूर बैठकर गुरुद्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त-का अनुष्ठान करता है । पश्चात् दीक्षित साधुओंको भी स्वयं वन्दना आदि करता है पर वे पश्चात् दीक्षित साधु उसे वन्दना आदि नहीं करते । इस अनुपस्थान-प्रायश्चित्तके दो भेद हैं । एक स्वगण-अनुपस्थान दूसरा परगण-अनुपस्थान । स्वगणानुपस्थान प्रायश्चित्तमें वह सापराध साधु अपने दोषोंकी आलोचना अपने संघके आचार्यके समीप हो करता है । और परगणानुपस्थान-प्रायश्चित्तमें परमंथके आचार्यके समीप जा जा कर करता है । वह इस तरह कि—जिस गणमें जिस साधुको दोष आदि हेतुओंसे दोष लगते ह उस गणके आचार्य उस सापराध साधुका किसी दूसरे संघके आचार्यके समीप भेजते हैं । वहां जाकर वह उस संघके आचार्यके समस्त अपने दोषोंकी आलोचना करता है । वे आचार्य भी उसके दोष सुनकर और प्रायश्चित्त न देकर किसी अन्य संघके आचार्यके समीप भेज देने हैं । वहां भी वह अपने दोषोंकी आलोचना करता है । पश्चात् वहांमें भी वह उसी तरह और और आचार्योंके पास भेज दिया जाता है । इस तरह तीन, चार, पांच, छह, सात संघके आचार्योंके पास तक अपराधके अनुसार भेजा जाता है । आखिर,

गणके आचार्य उसको आज्ञाचना सुनकर और प्रायश्चित्त न देकर जिस आचार्यने उसे अपने पास भेजा है उन्हींके पास उसे वापिस भेज देते हैं । वे अपने पास भेजनेवालेके पास भेज देते हैं एवं जिस क्रमसे जाता है उसी क्रमसे लौटकर अपने संघके आचार्यके समोप आता है । वहां आकर वह गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको पावता है ॥ २४२ ॥

अन्यतीर्थं गृहस्थं स्त्रीं सचित्तं वा सकर्मणः ।
चोरयन् वालकं भिक्षुं ताडयन्ननुपस्थितिः ॥

अर्थ—अन्य निगीको, गृहस्थीको, स्त्रीको और बालकको चुरानेवाला तथा अपने साधर्म्य अर्पिके छात्रोंको भी चुराने वाला और साधुको दंड आदिसे मारनेवाला अनुपस्थान प्रायश्चित्तका भागी होना है । भावार्थ—इस तरहके कर्तव्य करने वालेको अनुपस्थान प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४३ ॥

द्वादशेन जघन्येन पणमास्या च प्रकर्षतः ।

चरेद् द्वादश वर्षाणि गण एवानुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह अनुपस्थान प्रायश्चित्तवाला मुनि अपने संघमें ही जघन्येन पांच पांच उपवास और उत्कृष्टपनेमे छह छह महीने के उपवास बारह वर्षपर्यंत करे । भावार्थ—कमसे कम निरंतर पांच उपवास करके पाण्ड्या करे फिर पांच उपवास करके फिर पाण्ड्या करे एवं बारह वर्ष तक करे तथा अधिकमे अधिक छह महीनेके उपवास करके पाण्ड्या करे फिर छह महीनेके उपवास

करके पारणा करे एवं चारह वर्ष तक करे । और मध्यम छह छह उपवास कर पारणा करने हुए सात साल उपवास कर पारणा करने हुए चारह वर्ष तक करे ॥ २४६ ॥

एवमाद्यनुपस्थानप्रतिमेवाविलंबितः ।

प्रायश्चित्तं तु पारं चं प्रतिपद्येत भावतः ॥ २४७ ॥

अर्थ—इत्यादि अनुपस्थान परिहारके योग्य दापाचरणोंका जो लक्षण देन कर चुका है वह परमार्थमें पारं चिक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है । भावार्थ—ऐसा दापाचरण जो अनुपस्थान-परिहार नामके प्रायश्चित्तमें दूर न हो सकता हो ऐसी दशामें इससे ऊंचा पारं चिक प्रायश्चित्त दिया जाता है ॥ २४७ ॥

अपूज्यश्चाप्यमंभोगो दोषानुद्घुष्य गच्छतः ।

बहिष्कृतोऽपि तद्देशात् पारं चो तेन स स्मृतः ॥

अर्थ—यह अपूज्य है और अवंदनीय है इस तरह दापोंकी बढोपणा पूर्वक वह देशमें भी निकाल दिया जाता है इसनिष्ठ वह साधु पारं चिक कहलाता है । भावार्थ—ऋषि, यति, मुनि और अनगण इस चतुर्वर्ण्ये सबको बुनाहर कि यह अपूज्य है अवंदनीय है, मापण करने योग्य नहीं है, महा पातकी है, इस भोगोंसे बहिर्भूत है इस तरह उसके नपाय दोषोंको कहकर वह गणसे और उस देशसे भी निकाल दिया जाता है जहाँ पर कि भोग धर्म-कर्मको नहीं पहचानने परां आकर

श्चित्तका आचरण करता है इसलिये उसे पारंरिक कहते हैं ।
 'पारंची' शब्दकी व्युत्पत्ति भी ऐसा है कि "धर्मस्य पारं तीरं
 अंचति गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो धर्मको पार—तीरको
 पहुँच गया है वह पारंची है । अथवा "पारं अंचति परदेशं एति
 गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो गुरुद्वारा दिये गये मायश्चित्तका
 आचरण करनेके लिये परदेशको जाता है वह पारंची है ॥२४६॥

आसादनं वितन्वानस्तीर्थकृत्प्रभृतेरिह ।

सेवमानोऽपि दुष्टादीन् पारंरिकमुपांचति ॥

अर्थ—तीर्थकर आदिकी आसादना करनेवाला तथा रामाके
 मतिरूप दुष्ट पुरुषोंका आश्रय लेनेवाला साधु पारंरिक माय-
 श्चित्तका प्राप्त होता है । भावार्थ—जो साधु तीर्थङ्करोंकी अवज्ञा
 कर और राजासे विरुद्ध उसके शत्रुओंका आश्रय लेकर रहे
 उसे पारंरिक मायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४७ ॥

आचार्याश्च महर्द्धाश्च तीर्थकृद्गणनायकान् ।

श्रुतं जैनं मतं भूयः पारं व्यासादयन् भवेत् ॥

अर्थ—आचार्य, महर्द्धि, आचार्य, तीर्थङ्कर, गणपरम्बर,
 जैनगण और जन-मत इन सबको अवज्ञा करनेवाला साधु पारं-
 रिक मायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ २४८ ॥

द्वादशेन जघन्येन पण्मास्या च प्रकर्षतः ।

चरेद् द्वादशवर्षाणि पारंची गणवर्जितः ॥२४९॥

अर्थ—वह पारंरिक मायश्चित्तवाला मुनि मयमे बारह

रदकर कयमे कम पांच पांच उपवास और अधिकसे अधिक
छह छह महीनेके उपवास बारह वर्ष तक करे । मासार्ध-जयन्त्य
मध्यम और अकृष्ट ऐसे तान भेद पारंरिक मासार्धके हैं ।
मीनों ही प्रकारका मासार्ध बारह वर्ष तक करना पड़ता है ।
कयमे कम पांच उपवास कर पारणा करे फिर पांच उपवास
कर पारणा करे एवं बारह वर्ष तक करे और अधिकसे अधिक
छह महीने उपवास कर पारणा करे फिर छह महीने उपवास
कर पारणा करे एवं बारह वर्ष तक करे । तथा मध्यम भी छह
छह मास सात आदि उपवास कर पारणा करने हुए बारह वर्ष
तक करे ॥ २४८ ॥

राजापकारको राज्ञामुपकारकदीक्षणः ।

राजाप्रमहिषी सेवी पारंची मंत्रकीर्तितः ॥

अर्थ—राजाका अहित चितवन करनेवाला, राजाके उप-
कारक मंत्री पुरोहित आदिको दीक्षा देनेवाला और पट्टरानीका
सेवन करनेवाला साधु भी पारंरिक मासार्धके योग्य कहा
गया है ॥ २५० ॥

अनाभोगेन मिथ्यात्वं मंत्रान्तः पुनरागतः ।

तदेवज्छेदनं तस्य यत्सम्यग्भिरोचते ॥ २५१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वरूप परिणामोंका प्राप्त होकर पुनः अपनी
निन्दा और गद्गल करता हुआ सम्यक्त्व-परिणामोंको प्राप्त हो-
कर उसके इन परिणामोंको कोई जान न सके तो उसके

जो उसे रुचे वही प्रायश्चित्त है । भावार्थ—कारणवश सम्यक्त्व परिणामोंसे व्युत्त होकर मिथ्यात्व परिणामोंको प्राप्त हो जाय अनन्तर वह अपने इन परिणामोंकी निन्दा और गद्गद करता हुआ पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त हो और उसकी इस परिणतिको कोई न जान सके तो उसके लिए वही प्रायश्चित्त है जो कि उसे रुचे, अन्य नहीं ॥ २५१ ॥

यः साभोगेन मिथ्यात्वं संक्रान्तः पुनरागतः ।
जिनाचार्याज्ञया तस्य मूलमेव विधीयते ॥२५२॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त हो तथा उसकी इस परिणतिको कोई न जान ले तो सर्वज्ञदेव और आचार्योंके उपदेशानुसार उसे मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए ॥ २५२ ॥

प्रायश्चित्तं जिनेन्द्रोक्तं रत्नत्रयविशोधनं ।

प्रोक्तं संक्षेपतः किञ्चिच्छोधयन्तु विपरिचितः ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया, रत्नत्रयकी शुद्धि करने वाला यह छोटासा प्रायश्चित्त-मंत्र नायका शास्त्र संवेगमें मैंने (गुह्यम-प्राचार्यने) बनाया है उमहो प्रायश्चित्तादि नाना शास्त्रोंके ज्ञाना विद्वान् शुद्ध करें ॥ २५३ ॥



प्रायश्चित्त-चूलिका ।

ग्रन्थों, आश्रमों, ग्रन्थकों निर्गुण ज्ञान संपादितों विष
यों शिष्टाचारों, परिणामनों, निष्प्रपन्न इष्टदेवताका नप-
स्कार करने हैं—

योगिभिर्योगिन्याय केवलायाविनाशिने ।
ज्ञानदर्शनरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अर्थ—जो योगियों द्वारा ध्यानमें जानें जानें हैं, केवल—
शुद्ध हैं, अविनाशों हैं, ज्ञानज्ञान और केवलदर्शन तथा इनके
अविनाशों अनन्तरीय और अनन्तगुण स्वरूप हैं ऐसे पर-
मात्मा को नमस्कार है ॥ १ ॥

इसतरह अनौन अनागत और वनमानों विषय, माषान्यकी
अपेक्षामें एक मिट्ट परंपरीकी प्रथम नमस्कार कर उसके
अनन्तर प्रायश्चित्त चूलिका का प्रारंभ किया जाता है—

मूलोत्तरगुणेष्वीपद्विशेषव्यवहारतः ।
साधूपासकसंशुद्धि वक्ष्ये मंक्षिष्य तद्यथा ॥ २ ॥

अर्थ—पूजगुण और उत्तरगुणोंके विषयमें विशेष प्राय-
श्चित्त शास्त्रोंके अनुसार यदि और आवश्यकोंकी शुद्धि संवारे
करी जाती है, पर इस प्रकार है । भावार्थ—पूजगुण और

गुण दो दो तरहके हैं—यतियोंके और श्रावकोंके। यतियोंके मूलगुण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इत्यादि अठारह हैं। श्रावकोंके मूलगुण मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, पंच उदुंबरफलोंका त्याग ऐसे अनेक प्रकारके आठ हैं। तथा यतियोंके उच्चरगुण-आतापन, तोरण, स्थान, मौन आदि अनेक हैं और श्रावकोंके उच्चर गुण सापायिक, मोपधोवास आदि हैं। इनमें लगे हुए दोनोंकी शुद्धि संक्षेपसे कही जाती है॥

एकेन्द्रियादिजन्तूनां हृषीकगणनाद्वधे ।

चतुरिन्द्रियकुद्धानां प्रत्येकं तनुसर्जनं ॥ ३ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव पांचप्रकारके हैं, पृथिवीकायिक, अण्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक। वनस्पति कायिकके दो भेद हैं—प्रत्येक वनस्पति और अनन्त-काय वनस्पति। एक जीवके एक शरीर हो वह प्रत्येककायिक जीव है जैसे सुपारी नारियल आदि। अनन्त जीवोंके एक शरीर हो वे अनन्तकायिक जीव हैं जैसे गूड़ची, मूरण आदि। आदि शब्दसे द्वीन्द्रियादि जीवोंका ग्रहण है। शंख, सोप आदि दो इन्द्रिय जीव, कुंघु, चींटी आदि तेइन्द्रिय जीव, भौरा पत्थरी आदि चौइन्द्रिय जीव, और धनुष्य, मत्स्य, मकर आदि पंचेन्द्रियजीव होते हैं। इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंको आदि मेकर चौइन्द्रिय पर्यंतके जीवोंका बध हो जाने पर उन प्रत्येककी इन्द्रियमर्त्याके अनुसार कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है।

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च

सोऽभ्यासनिश्वासयुतास्तथापुः ।

प्राणा दशैते भगवन्निरुक्ता-

स्तेषां वियोगकिरणं तु हिंसा ॥ १ ॥

इति दश प्राणविभेदे एतेन्द्रिय जीवके स्पर्शन इन्द्रिय, काय-
बल, उच्छ्वास निश्वास और आधु ये चार प्राण होते हैं। दो
इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो तो इन्द्रिया कायस्थ
और वचनस्थ ये दो बल, उच्छ्वासनिश्वास और आधु ये छ
प्राण हान हैं। तेइन्द्रियजीवके स्पर्शन, रसना और प्राण ये ती
ना इन्द्रिया, कायस्थ और वचनस्थ ये दो बल, उच्छ्वास-
निश्वास और आधु ये मात्र प्राण होते हैं। चौइन्द्रियजीवके
स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रुति, कायस्थ, वचनस्थ, उच्छ्वासनिश्वास
और आधु ये सात प्राण हान हैं। अष्टाद्रिर्नैन्द्रियके पाँचों
इन्द्रिया, कायस्थ वचनस्थ, उच्छ्वास निश्वास और आधु ये
नौ प्राण हान हैं। तथा सादृश्यान्न्द्रियके पुरोक्त दशो प्राण
हान हैं। इन इन्द्रिय और प्राणादी गणनाके अनुगार उक्त-
कृष्णादी वचनस्थ स्थिर आस्थिर, उक्त गुणादी कायस्थ
स्थिर स्थिर अस्थिर, सूक्ष्मादी वचनस्थ स्थिर अस्थिर
और सूक्ष्मादी कायस्थ स्थिर अस्थिर सातों के वियो-
गके और उच्छ्वास प्राणादिकों की गणना कर लेना प्रायश्-
चित्त है। उक्त है। उक्तकृष्णादी वचनस्थ स्थिरके इन्द्रिय

अथवा यत्न्ययत्नेषु हृषीकप्राणसंख्यया ।

कायोत्सर्गा भवन्तीह क्षमणं द्वादशादिभिः ॥५॥

अर्थ—अथवा इस शास्त्रमें यत्नचारा और अयत्नचारी इन दोनों पुरुषोंके इन्द्रियसंख्या और प्राणसंख्याके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं और बारह आदि एकेन्द्रियादि जीवोंके घातसे उपवास प्रायश्चित्त होता है । भाष्यार्थ—यत्नचारीके इन्द्रिय गणनाके अनुसार और अयत्नचारीके प्राणगणनाके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं । और बारह एकेन्द्रिय, छह दो इन्द्रिय, चार तेइन्द्रिय और तीन चौइन्द्रियके घात करनेका प्रायश्चित्त एक एक उपवास होता है ॥ ५ ॥

पद्त्रिंशन्मिश्रभावार्कग्रहेकेषु प्रतिक्रमः ।

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकेषु सपष्ठभुक् ॥ ६ ॥

अर्थ—छत्तीस एकेन्द्रियजीव, अठारह दोइन्द्रिय जीव, बारह तेइन्द्रियजीव, नौ चौइन्द्रिय जीव, और एक पंचेन्द्रियजीवके मारनेका प्रायश्चित्त दो निरन्तर उपवास और प्रतिक्रमण है । भाष्यार्थ—छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त दो उपवास और एक प्रतिक्रमण है । इसी तरह अठारह दोइन्द्रिय, बारह तेइन्द्रिय, नौ चौइन्द्रिय और एक पंचेन्द्रियके मारनेका प्रायश्चित्त सप्तमना आदिष्ट । यहाँ मिश्रभाव शब्दसे अठारह प्रत्यक्ष है क्योंकि मिश्रभाव ज्ञान दर्शन आदि अठारह

प्रयत्नचारीको कल्याण. स्थिर प्रयत्नचारीको तीन उपवास.
अस्थिर प्रयत्नचारीको कल्याण और अस्थिर प्रयत्नचारीको
दो उपवास प्रार्थना देना चाहिए ॥ ८ ॥

पष्ठं मासो लघुर्मूलं मूलच्छेदोऽसकृत्पुनः ।
उपवासास्त्रयः पष्ठं लघुमासोऽथ मासिकं ॥ ९ ॥

अर्थ—इन्हीं उपर्युक्त आठ पुरुषोंके बारबार अर्धशीतीति
पान का प्रार्थना दो उपवास, अष्टमास, मासिक, मूलच्छेद,
तीन उपवास, दो उपवास, अष्टमास और मासिक है । मासिक—
मूलगुणधारी प्रयत्नचारी स्थिर का बारबार अर्धशीतीति का करने
का प्रार्थना दो उपवास. अप्रयत्नचारी स्थिरको कल्याण,
प्रयत्नचारी अस्थिरको पंचकल्याण, अप्रयत्नचारी अस्थिरको
मूलच्छेद देना चाहिए । तथा उपर्युक्त सारी प्रयत्नचारी स्थिर-
का तीन उपवास, अप्रयत्नचारी स्थिरका पष्ठ-दो उपवास,
प्रयत्नचारी अस्थिरको कल्याण, और अप्रयत्नचारी अस्थिरको
मासिक—६४ कल्याण प्रार्थना देना चाहिए ॥ ९ ॥

एतन्मान्तरमाप्नानं मंत्रिनि म्याभिरंगरं ।
नीत्रमंदादिकान् मानानरगम्य प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—एक वर्ष वृषा वृषा प्रार्थना पक्षमास और बारबार
चंद्रमास दो बारदेहाने मासिक निरंतर माना गया है ।
अर्धमासिक बारबार है । समागत विषय माने गए जो माना गया है ।

प्रयत्नचारी हो कल्याण, स्थिर अयत्नचारी हो तीन उपवास, अस्थिर प्रयत्नचारी हो कल्याण और अस्थिर अयत्नचारी हो दो उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८ ॥

पष्ठं मासो लघुर्मूलं मूलच्छेदोऽसकृत्पुनः ।

उपवासान्त्रयः पष्ठं लघुमासोऽथ मासिकं ॥ ९ ॥

अर्थ—इन्हीं उपर्युक्त आठ पुरुषोंके बारबार असंज्ञी जीवके पातका प्रायश्चित्त दो उपवास, लघुमास, मासिक, मूलच्छेद, तीन उपवास, दो उपवास, लघुमास और मासिक है । भावार्थ—मूलगुणधारी प्रयत्नचारी स्थिरको बारबार असंज्ञी जीवके मारने का प्रायश्चित्त दो उपवास, अयत्नचारी स्थिरको कल्याण, प्रयत्नचारी अस्थिरको पंचकल्याण, अयत्नचारी अस्थिरको मूलच्छेद देना चाहिए । तथा उच्चारणगुणधारी प्रयत्नचारी स्थिरको तीन उपवास, अयत्नचारी स्थिरको पष्ठ—दो उपवास, प्रयत्नचारी अस्थिरको कल्याण, और अयत्नचारी अस्थिरको मासिक—पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ९ ॥

एतत्सान्तरमाप्नातं संज्ञिनि स्यान्निरंतरं ।

तीव्रमंदादिकात् भावानवगम्य प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ प्रायश्चित्त एकबार और बारबार असंज्ञी जीवको मारनेवाले साधुके लिए सांतर माना गया है । व्याधि आदि कारणोंका समागम मिल जाने पर जो आचार्योंको

लेका ।

विधान करनेमें आधा अर्थात् तीनपास पर्यन्त गृहोपवास कर
करके पारणा करना है । तथा उन मादेन्द्रादिकके आत्मप
बंधमौके विधानका प्रापश्चिन्ना हमने आधा अर्थात् देढ़ पास
तकके गृहोपवास है ॥ १०

ब्राह्मणक्षत्रविदञ्चद्रुचतुष्पदविधातिनः ।

एकान्तरष्टमासाः स्युः पष्टाद्यन्ताश्च पूर्ववत् ॥

अर्थ—सांक्रिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चोषाये
इनका घात करनेवाले माधुक निष्प पक्षेकी तरह भाये भाये
हीन आदि और अन्तमें गृहोपवासपूर्वक आठपास पर्यन्त
के एकान्तरापवास है । भावार्थ—सांक्रिक ब्राह्मणके घातका
मापश्चिन्ना आठ पास पर्यन्त एकान्तरापवास करना है । प्रथम
वेना कर पारणा करे उसके बाद उपवास कर फिर पारणा कर
उपवास करे एवं आठ महाने तक करे और अन्तमें भी वेना
करे । सारांश आदि और अन्तमें वेना करे और मध्यम एक एक
दिन छोड़कर उपवास करे । इसी तरह क्षत्रियके घातका माय-
श्चिन्ना चार महाने तकके एकान्तरापवास वैश्यके घातका दो
पासपर्यन्तके एकान्तरापवास, सुतार (स्वाती) आभी
(गोपान) कुम्हार आदि शूद्रोंके विघातका एक माह तक
एकान्तरापवास, और चौषाधिकी घातका प्रापश्चिन्ना पंद्रह नि-
तकके एकान्तरापवास है । तथा आदि और अन्तमें सर्वत्र वे
करना भी है ॥ १३ ॥

तृणमांसात्पतत्सर्पपरिसर्पजलौकसां ।

चतुर्दशनवाद्यन्तक्षमणानि वधे छिदा ॥ १४ ॥

अर्थ—मृग, खरगाश, राम आदि तृणचर जीवोंके विनाशका प्रायश्चित्त चौदह उपवास है । सिंह, व्याघ्र, चीता आदि मांस-भक्षी जीवोंके मारनेका तेरह उपवास, मयूर, मुर्गा, कबूतर आदि पक्षियोंके वधका बारह उपवास, सर्प, गानस आदि सर्प जातिके मारनेका ग्यारह उपवास, गोरा, सरट आदि परिसर्पोंके विनाशका दश उपवास और मकर, शिथुमार, मत्स्य, कच्छप आदि जलचर जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त ना उपवास है ॥ १४ ॥

इस तरह प्रथम अहिमात्रतसंबन्धी प्रायश्चित्त कथन किया आगे सत्यव्रतसंबन्धी प्रायश्चित्त बताने हैं;—

प्रत्यक्षे च परोक्षे च द्वयेऽपि च त्रिधानृते ।

कायोत्सर्गोपवासाः स्युः सकृदेकैकवर्धनात् ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, परोक्ष और उभय (प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों अवस्थाओंमें) एक बार झूठ बोलने तथा मनसे, वचनसे और कायसे झूठ बोलने पर एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग, उपवास और चकारसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त हैं । भावार्थ—प्रत्यक्ष झूठ एक कायोत्सर्ग, एक उपवास और एक प्रतिक्रमण है । परोक्ष झूठ बोलनेका दो कायोत्सर्ग, दो उप-

वास और प्रतिक्रमण प्रार्थना है । मत्पद-प्रोक्त दोनों
दालतोंमें मूठ योजनेका तीन कायोत्सर्ग तीन उपवास और
प्रतिक्रमण है और मन, वचन, कायमें मूठ योजनेका चार
कायोत्सर्ग, चार उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थना है ॥१५॥

असकृन्मासिकं साधोऽगमदोषाभिलाषिणः ।
कपायादभियुक्तस्य परैर्वा द्विगुणादि तत् ॥१६॥

अर्थ—कपायवश बार बार मूठ बाननेवाले साधुको पंच-
कल्याणक प्रार्थना देना चाहिए । तथा दूसरेमें प्रेरित होकर
मूठ योजनेवालेको पूर्वोक्त कायात्मर्गका आदि लेकर मासिक
पर्यन्त जा प्रार्थना करा गया है वह द्वा तिगुना चागुना
अथवा इससे भी अधिक गुना देना चाहिए ॥ १६ ॥

नीचः पेशून्यपुष्टस्य गच्छाद्देशाद्विष्कृतिः ।
तच्छ्रुत्वा मन्यमानोऽपि दोषपादांशमश्नुते ॥

अर्थ—पशून्य भाग्युक्त निष्कृष्ट साधुको तो गच्छने और
देशसे बाहर निकाल देना चाहिए । जो साधु इस निष्कृष्ट साधुके
उन वचनोंका मान देता है वह भी उसके उस दोषके चतुर्थांश-
का भागी होता है ॥ १७ ॥

इस तरह सत्यव्रतक, प्रार्थनाओंका कथन किया अब अर्थ-
व्यवहारे प्रार्थनाओंका कथन करते हैं—

सकृच्छून्ये समक्षं चानाभोगेऽदत्तसंग्रहे ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युः प्राग्वन्मूलगुणो

अर्थ—गून्घ स्थानमें और मत्पत्रमें बिना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पूर्ववत् एक बड़ो हुए कायोत्सर्ग और उपवास है । चक्रारमें प्रतिक्रमण भी है । बार बार बिना दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है । भाषा—निर्जन स्थानमें बिना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका प्रतिक्रमण सड़ित एक कायोत्सर्ग और एक उपवास है । मिथ्यादृष्टियोंके न देखते हुए अपने सायियोंके सामने एकवार अदत्त ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण पूर्वक दो कायोत्सर्ग और दो उपवास है । अगर मिथ्यादृष्टियोंके देखते हुए एकवार अदत्त ग्रहण करे तो प्रतिक्रमण सड़ित तीन कायोत्सर्ग और तीन उपवास प्रायश्चित्त है तथा सोना चांदी आदि अदत्तपदार्थोंके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है इतना विशेष समझना चाहिए । बारबार अदत्त ग्रहण करनेका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ १८ ॥

आचार्यस्योपधेरर्हा विनेयास्तान् विना पुनः ।
सधर्माणोऽथ गच्छश्च शेषसंधोऽपि च क्रमात् ॥

अर्थ—आचार्यके पुस्तक आदि उपकरणोंको ग्रहण करनेके योग्य उनके शिष्य हैं । शिष्य न हों तो उनके गुरुभाई हैं । गुरुभाई भी न हों तो गच्छ है । तीन पुरुषोंके अन्वयको गच्छ कहते हैं । गच्छ मो न हों तो शेष संघ योग्य है । सप्त पुरुषोंके अन्वयको संघ कहते हैं ॥ १९ ॥

अथ चतुर्थं प्रथमं प्रकृतं विषयं कथं है—

क्रियात्रये कृते दृष्टे दुःस्वप्ने रजनीमुखे ।

सोपस्थानं चतुर्थं नियमाभुक्तिः प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—स्याध्याय, नियम और बंदना इन तीन क्रिया-
को करनेके अनन्तर रात्रिके प्रथम पहरमें दुःस्वप्न देखने
पर क्रममें सप्ततिक्रमण उपवास, नियमोपवास और प्रतिक्रमण
प्रायश्चित्त है । भाषार्थ—जो कोई साधु रात्रिके प्रथम पहरमें
स्याध्याय, नियम प्रतिक्रमण, देवबंदना इन तीनोंमेंमें कोई
सो एक क्रिया कर सो जाय पश्चात् दुःस्वप्न देखे अर्थात् वीर्य-
पात हो जाय तो उसके लिए सप्ततिक्रमण उपवास प्रायश्चित्त
है । उक्त तीनों क्रियाओंमें कोई भी दो क्रियाएं करके सोने
पर दुःस्वप्न देखे तो बहुत प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त
है । यदि तीनों क्रियाएं करके सोनेपर दुःस्वप्न देखे तो केवल
प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है ॥ २३ ॥

नियमक्षमणे स्यातामुपवासप्रतिक्रमौ ।

रजन्या विरहे तु स्तः क्रमात् पष्ठप्रतिक्रमौ ॥

अर्थ—रात्रिके पश्चिम पहरमें एक क्रिया करके सोनेवाले
साधुको दुःस्वप्न देखने पर नियम और उपवास प्रायश्चित्त
देना चाहिए । दो क्रियाएं करके सोये हुएको दुःस्वप्न देखने
पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा
तीनों क्रियाएं करके सोये हुएको दुःस्वप्न देखने पर प्रतिक्रमण
और पष्ठोपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४ ॥

साय गुप्त बातें करने वाले साधुको [संघसे निकाल हो देना चाहिए क्योंकि वह सबेसे देवकी आज्ञाको कलंकित करने वाला है ॥ २८ ॥

स्थातुकाम सः चेद्भूयस्तिष्ठेत् क्षमणमौनतः ।
आपण्णाममयः कालो गुरुद्विष्टावधिर्भवेत् ॥

अर्थ—यदि वह साधु संघमें रहनेका इच्छुक हो तो छा-
पीने तक अथवा गुरु जितना काम चाहे उतने काम तक
मनिक्रमण करना हुआ धीनपूर्वक रहे ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा योषामुग्राद्यंगं यम्यः कामः प्रकुप्यति ।
आलोचना तनृत्मर्गस्तम्य ज्येदो भवेदयम् ॥

अर्थ—स्त्रियोंके मृग आदि अंगोंको देखकर जिस में
मांस्य माधकी कामाग्नि प्रच द हा जाय उमके लिए आलोचना
और कायात्म्य वह शय्याशय है ॥ ३० ॥

म्रीगुह्यान्लोकितो वृष्यरमममेविनो भवेत् ।
रमानां हि परित्यागः म्याव्यायोऽचितरोधिनः ॥

अर्थ—जिसका मन बार स्त्रियोंके पानि आदि गुप्त अंगोंके
देखनेका और कामसेक पादिक रमोंके देखन करनेका है
उपलो दश, दश, शाल्योदन अथवा आदि वनररक रमोंका
यस्य रूप शय्य शय्य देना चाहिए । तथा जिसका मन वार्यों

के आहार ग्रहण करे तो क्रमसे उपवास और पष्ठ प्रायश्चित्त है ।
 भाषार्थ—रात्रिमें उक्त कारण वश एक प्रकारका आहार ग्रहण
 करे तो उपवास और चारों प्रकारका आहार ग्रहण करे तो पष्ठ
 प्रायश्चित्त है ॥ ३३ ॥

व्यायामगमनेऽमार्गे प्रासुकेऽप्रासुके मतेः ।
 कायोत्सर्गोपवासौ स्तोऽपूर्णक्रोशे यथाक्रमम् ॥

अर्थ व्यायामनिमित्त जन्तुगहित-प्रासुक उन्मार्ग (पगड़ी) होकर और जन्तुगहित अप्रासुक उन्मार्ग हो कर जो यति अपने कायत्सरग गमन करे तो उसके निष्ठ क्रमसे कायोन्मार्ग और उपवास प्रायश्चित्त है । भाषार्थ—प्रासुक उन्मार्ग हो कर गमन करनेका कायोन्मार्ग और अप्रासुक उन्मार्ग होकर गमन करनेका उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३४ ॥

घननीहारतापेषु क्रोशैर्वन्दि स्वरग्रहेः ।

क्षमणं प्रासुके मार्गे द्विचतुःषडभिरन्यथा ॥३५॥

अर्थ—वर्षाकाल, शीतकाल, और उष्णकालमें प्रासुक मार्ग होकर क्रमसे तीन कोण, छह कोण और नौ कोण गमन होकर अप्रासुक मार्ग होकर क्रमसे दो, चार, छह कोण गमन करे तो वह अथवा प्रायश्चित्त है । भाषार्थ—वर्षाकालमें प्रासुक मार्ग होकर तीन कोण, और अप्रासुक मार्ग होकर दो कोण, शीतकालमें प्रासुक मार्ग होकर छह कोण और अप्रासुक मार्ग होकर दो कोण, उष्णकालमें प्रासुक मार्ग होकर नौ कोण और अप्रासुक मार्ग होकर दो कोण गमन करे तो वह अथवा प्रायश्चित्त है ।

हो कर चारकोश, गर्भमें मातृक मार्ग हो कर नौ कोश चार
अमातृक मार्ग होकर छह कोश गमन करेता सबका मायधिया
एक एक उपवास है । यह मायधिया दिनमें गमन करनेका
है रातमें गमन करनेका आंगके शरीरमें बसाने है । यदा शक्ति
मे तीन, स्वरमे छह और ग्रहमे नौ गण्यताका ग्रहण है ॥ १५ ॥

दशमादष्टमान्द्युद्धो रात्रिगामी मजन्तुके ।

विजन्तो च त्रिभिः क्रोशमार्गं प्रावृषि मयतः ॥

अर्थ—यसमानमें अमातृक और मातृक मार्ग होकर तीन
कोश रात्रिमें गमन करनेवाला मयत प्रथमे दशम—अमातृक
चार उपवास और अष्टम-अमातृक तीन उपवास करनेमे शुद्ध
होता है । भावाग—यसमानके दिनमें अमातृक मार्ग होकर
तीन कोश रातमें गमन करनेका चार निरन्तर उपवास और
मातृक मार्ग होकर गमन करनेका तीन निरन्तर उपवास माय-
धिया है ॥ १६ ॥

हिमे क्रोशचतुष्केणाप्यष्टम पष्ठमयित ।

प्रीप्ते क्रोशेषु पदमु स्यात् पष्ठमन्यत्र च क्षमा ॥

अर्थ—शीतकालमें अमातृक मार्ग होकर चार मातृक मार्ग
हो कर रातमें चार कोश गमन करनेका मायधिया प्रथमे निर-
न्तर तीन उपवास और निरन्तर दो उपवास है । तथा गर्दीही
योगिमें अमातृक मार्ग होकर और मातृक मार्ग होकर छह

कोश रातमें गमन करनेका प्रायश्चित्त क्रमसे पष्ठ और उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३७ ॥

सप्रतिक्रमणं मूलं तावन्ति क्षमणानि च ।

स्याल्लघुः प्रथमे पक्षे मध्येऽन्त्ये योगभंजने ॥ ३८ ॥

अर्थ—देशभंग, महामारी आदि कारणों वश पत्रके शुल्मे योगभंग हो तो प्रतिक्रमणसहित पंचदश्याण प्रायश्चित्त है । पत्रके मध्य भागमें योगभंग हो तो पत्रके जितने दिन बाकी रहें उतने उपवास प्रायश्चित्त है और पत्रके अन्तमें यागभंग हो तो लघुपात्र प्रायश्चित्त है ॥ ३८ ॥

जानुदघ्ने तनूत्सर्गः क्षमणं चतुरंगुले ।

द्विगुणा द्विगुणास्तस्मादुपवासाः स्युरंभसि ॥

अर्थ—घुटनेपर्यंत पानीमें हाकर जाने तो एक कायात्सर्ग प्रायश्चित्त है । घुटनेमें चार अंगुल ऊपर पानीमें हाकर जानेका एक उपवास प्रायश्चित्त है । ४० में चार चार अंगुल ऊपर पानीमें हाकर जानेका दो उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३९ ॥

दंडः षोडशभिर्ममेय भ्रमन्त्येते जलेऽजसा ।

कायोत्सर्गापवासास्तु जन्तुकीर्णं ततोऽधिकाः ॥

अर्थ—य जो कायात्सर्ग और उपवास बंद गये हैं वे मोक्षधनुष (चांगड हाथ) पर्यंत मध्य पक्षमें हुए जन्तु-जन्तुघातोंसे रहित जलमें डोहर जानेके हैं । न्यूनके नहीं । तथा जन्तुघातों में

हुए पानीमें होकर जानेका प्रायश्चित्त करने कहे हुए कायोत्सर्ग और उपवासमें अधिक कायोत्सर्ग और उपवास है ॥ ४० ॥

स्वयमर्थप्रयुक्तेश्च नावाद्येस्तरणे सति ।

स्वल्पं वा बहु वा दद्याज्ज्ञातकालादिको गणी ॥

अर्थ—अपने निमित्त या उनके निमित्त प्रयुक्त नाव आदि-
के द्वारा नदी आदि पार करने पर कान्न आदिको जाननेवाला
गचार्य छोड़ा या बहुत (कान्नको जानकर) प्रायश्चित्त दे ।

इस विषयमें छत्रपिटवे यह लिखा है—

काउस्सग्गो आलोयणा य नावादिणा णदीतरणे ।

गावाए जलहितरणे भाही खवणादिपणयंता ॥ १ ॥

उपरणिमिच्चपउंजिद दोणीणावादिणा णदीतरणे ।

अण्णे भणंति एग्गो उपवासो तह विउस्सग्गो ॥ २ ॥

अर्थात्—नाव आदिके द्वारा नदी पार करनेका प्रायश्चित्त
कायोत्सर्ग और आलोचना है । और नमुद्र पार करनेका उप-
वासको आदि लेकर कल्याणपर्यंत है । तथा कोई कोई गचार्य
जाने है कि अपने निमित्त या उनके निमित्त प्रयुक्त द्रोणी
(छोटी) नाव आदिके द्वारा नदी पार करने का एक उपवास
और कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥ ८१ ॥

क्षेण गणिता देयं जलयाने विशोधनं ।

साधूनामपि चार्याणां जलकैलिमहामृणिः ॥

नोन है और कई उपवासों के साथ माघ कर्मों का पालन-
का आदि नेकर छह माघ पर्यन्त उपवास और अधिक
अधिक भावायोंपरिष्ट प्रायश्चित्त है ॥ ४८ ॥

हस्तेन हन्ति पादेन दंडेनाथ प्रताडयेत् ।

एकाद्यनेकधा देयं क्षमणं नृविशेषतः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो माधु हाथमें परसे अथवा दंडसे मारना-पीटना
है उसको मनुष्य विशेषके अनुसार एकको आदि नेकर अनेक
प्रकारके उपवास देने चाहिए ॥ ४९ ॥

यश्च प्रोत्माह्यहस्तेन कलहयेत् परस्परं ।

असंभाष्योऽस्य पण्डं स्यादापण्मासं सुपायिनः ॥

अर्थ—जो मुनि हाथोंके उमारेसे उत्साह दिनाकर परस्पर
में कलह कराता है वह भाषण करने योग्य नहीं है और उस
पापीको छह महीने तकका पण्ड प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ५० ॥

छिन्नापराधभाषायाप्यसंयतबोधने ।

नृत्यगायेति चालापेऽप्यष्टमं दंडनं मतं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस दोषका पढ़ने प्रायश्चित्त किया गया है उसीको
फिर करने पर, सोये हुए, अविरतको जगाने पर और नाचो
गाओ इत्यादि कहने पर तीन निरंतर उपवास प्रायश्चित्त माने
गये हैं ॥ ५१ ॥

मूंग, उड़द, राजमाय आदि चीजें चीत कइो जानी हैं सोमानन
 (), केरंड (), मूना आदिको मून कहते
 हैं । अज्ञानवश अर्थात् आगमकों न जानता हुआ अथवा ये चीजें
 अपामुक हैं ऐसा न जानता हुआ यदि इन कन्द मून, फल
 बीज, आदिको एक बार ग्वाय तो कायोत्सर्ग और बार बार
 ग्वाय तो उपवास प्रायश्चित्त है । आगम अथवा अपामुक जानता
 हुआ भी व्याधिविशेष पीड़ित होकर एक बार ग्वाय तो उपवास
 और बार बार ग्वाय तो कल्याण प्रायश्चित्त है । और अहंकार-
 वश—निःशंकु हाकर छोड़कर रसायन आदिके निमित्त एक
 बार ग्वाय तो पंचकल्याण और बार बार ग्वाय तो मून-पुन-
 र्दत्ता प्रायश्चित्त है ॥ ५३ ॥

कुड्याद्यालंब्य निष्ठूय चतुरंगुलसंस्थितिम् ।
 त्यक्त्वोक्त्वा क्षमणं ग्लाने भुक्ते पष्ठं तथा परे ॥

अर्थ—दीवान, स्तंभ आदिका सहारा लेकर, खकार धूक
 कर, चार अंगुल प्रमाण पैरोंके अंतरको सागकर और कुछ कह
 कर यदि उपवास आदिसे पीड़ित हुआ कोई मुनि भोजन करे
 तो उपवास प्रायश्चित्त है । और यदि उपवासादिसे पीड़ित न
 होकर साधारण अवस्थामें उक्त प्रकारसे भोजन करे तो पष्ठ
 प्रायश्चित्त है ॥ ५४ ॥

काकादिकान्तरायेऽपि भग्ने क्षमणमुच्यते ।
 गृहीतावग्रहे त्यागः सर्वं भुक्तवतः क्षमा ॥ ५५ ॥

चुलिका ।

अर्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोध, रुधिर देखना, अश्रुपात आदि जो जो मुनि भोजनके अंतराय हैं उनको न टालकर भयवा इन अंतरायोंके भाजने पर भी भोजन करे तो उपवास प्रार्थश्चित्त है । साग की हुई वस्तुको भक्षण करते हुए फिर उसका स्पर्श हो जाय तो स्पर्श आतेही उसकी साग देना फिर न गाना ही प्रार्थश्चित्त है और यदि वह सागकी हुई वस्तु सबकी सब गवाची गई हो ना उपवास प्रार्थश्चित्त है ॥ ५५ ॥

महान्तरायमभूतो क्षमणेन प्रतिक्रमः ।

भुज्यमाने क्षते शल्ये पृष्ठेनाष्टमतो मुखे ॥ ५६ ॥

अर्थ—भारी अंतरायका सभव होने पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भोजन करते हुए हड्डी बगैरह दीर्घ पटं तो पट्ट और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है और मुखमें हड्डी बगैरह पालूय पटं तो तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भावार्थ—भोजन करते समय हड्डी आदिमें बिना हुआ भोजन रूप भारी अंतराय आगया हो और भोजन करनेके अनन्तर मुननेमें आया हो तो उस अपराधका उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भोजन करते हुए खुद अपने हाथमें हड्डी बगैरह देख ले तो पट्ट और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है तथा भोजन करते करते अपने मुखमें हड्डी बगैरह समुपनम्य हो तो निरंतर तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । यहां शल्य द्रव्य उपनक्षणात्थ है इसनिष्ठ गाना चर्म, रुधिर आदि द्रव्यका भी यही प्रार्थश्चित्त है ॥ ५६ ॥

आधाकर्मणि सव्यावेर्निव्याधेः सकृदन्यतः ।

उपवासोऽथ पष्ठं च मासिकं मूलमेव च ॥ ५७॥

अर्थ—कोई रोगी मुनि, आधाकर्मद्वारा उत्पन्न हुआ भोजन एक बार खाय तो उपवास और बार बार खाय तो पष्ठ प्रायश्चित्त है । नया नीरोग मुनि आधाकर्म द्वारा उत्पन्न भोजनको एकवार खाय तो पंचकल्याण और बारबार खाय तो मूल प्रायश्चित्त है । जो भोजन छह निकायके जीवोंकी वाधा-हिसासे उत्पन्न हुआ हो वह आधाकर्म द्वारा उत्पन्न हुआ भोजन कट-लाता है ॥ ५७ ॥

स्वाध्यायमिद्वये माधुर्यदुद्देशादि सेवते ।

प्रायश्चित्तं तदा तस्य सर्वदेव प्रतिक्रमः ॥ ५८ ॥

अर्थ—स्वाध्यायसिद्धिके निमित्त यदि साधु उद्देशक आदि दोषोंसे उत्पन्न हुआ भोजन सेवन करे तो उसके लिए सर्व काल प्रतिक्रम प्रायश्चित्त है । यहां पर भी प्रतिक्रम शब्दका अर्थ नियम है ॥ ५८ ॥

एकं ग्रामं चरेद्विक्षुर्गन्तुमन्यो न कल्पते ।

द्वितीयं चरतो ग्रामं सोपस्थानं भवेत्क्षमा ॥ ५९ ॥

अर्थ—एक ग्राममें चर्याके लिए पर्यटन कर उसी दिन भिक्षाके लिए दूसरे ग्रामको जाना उचित नहीं है । यदि कोई मुनि एक गांवमें भोजनके लिए पर्यटन कर उसी दिन दूसरे

विशेष, पृथ्वीविशेषके ऊपर एकबार मज-मूत्र विमर्जन करे तो कायोत्सर्ग और बार बार करे तो उपवास मायश्चित्त है ॥६२॥

आगे पंचेन्द्रियनिरोधके दोषोंका मायश्चित्त बताने हैं—

स्पर्शादीनामतीचारे निःप्रमादप्रमादिनाम् ।

कायोत्सर्गोपवासाः स्युरेकैकपरिवर्तिताः ॥६३॥

अर्थ—स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंको अपने अपने विषयों-से न रोकनेका अप्रमत्त और प्रमत्त पुरुषके लिए एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग और उपवास मायश्चित्त है। भावार्थ—कठोर, नर्म, भारी, हलका, ठंडा, गर्म, चिकना और रूखाके भेदसे आठ प्रकारका स्पर्श है जो स्पर्शन इंद्रियका विषय है। चिपरा, कडुआ, कपायना, खट्टा, मीठा और खारा ये छह रस हैं जो रसना इंद्रियके विषय हैं। गन्ध दो प्रकारका है सुगन्ध और दुर्गन्ध, जो घ्राणइंद्रियका विषय है। काना, नीला, पीला, सफेद और लाल इस तरह छह प्रकारका रूप है जो नेत्र इंद्रियका विषय है। तथा पट्ट, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद यह छह प्रकारका शब्द है जो श्रोत्रेन्द्रियका विषय है। इन विषयोंसे पांचों इंद्रियोंको न रोकनेका इस प्रकार मायश्चित्त है। अप्रमत्तके लिए तो एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग है जैसे—स्पर्शन इंद्रियका एक कायोत्सर्ग, रसनाके दो, घ्राणके तीन, चक्षुके चार और श्रोत्रके पांच कायोत्सर्ग। प्रमत्तके लिए एक एक बढ़ते हुए उपवास हैं जैसे—स्पर्शन इंद्रियको

अथ, अस्नान, च्छिर्तिशयन और अदंतधावन मूलगुणोंमें लगे अपराधोंका मायश्चित्त कहते हैं; -

दंतकाष्ठे गृहस्थार्हशय्यासंस्नानसेवने ।

कल्याणं सकृदाख्यातं पंचकल्याणमन्यथा ॥६९॥

अर्थ—एकबार, दंतधावन करने, गृहस्थोंके योग्य शय्या-पर सोने और स्नान करनेका कल्याण मायश्चित्त है और बार बार इन्ही कार्योंके करनेका पंच कल्याण मायश्चित्त है ॥ ६९ ॥

अथ स्थिति भोजन और एकभक्त के विषयमें कहा जाता है—

अस्थित्यनेकसंभुक्तेऽदपे दपे सकृन्मुहुः ।

कल्याणं मासिकं छेदः क्रमान्मूलं प्रकाशतः ॥

अर्थ—व्याधिवश, एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका कल्याण मायश्चित्त और बार बार बैठकर भोजन करने, अनेक बार भोजन करनेका पंचकल्याण मायश्चित्त है तथा लोगोंके देखते हुए अहंकारमें ब्रह्म होकर एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका प्रश्रय्याच्छेद मायश्चित्त और बार बार ऐसा करनेका मूल-पुनर्दीक्षा मायश्चित्त है । भावार्थ—रोगवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार, स्थिति भोजन व्रत और एक भक्त व्रतका भंग करनेपर उक्त मायश्चित्त है ॥ ७० ॥

समितीन्द्रियलोचेषु भूशयेऽदंतधर्पणे ।

कायोत्सर्गः सकृद्भूयः क्षमणं मूलमन्यतः ॥

अथ, अस्नान, त्रितिशयन और अर्द्धतथावन मूलगुणोंमें लगे अपराधोंका प्रायश्चित्त कहते हैं; -

दंतकाष्ठे गृहस्थार्हशय्यासंस्नानसेवने ।

कल्याणं सकृदाख्यातं पंचकल्याणमन्यथा ॥६९॥

अर्थ—एकवार, दंतधावन करने, गृहस्थोंके योग्य शय्या पर सोने और स्नान करनेका कल्याण प्रायश्चित्त है आर बार बार इन्ही कार्योंके करनेका पंच कल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ६९ ॥

अथ स्थिति भोजन और एकभक्त के विषयमें कहा जाता है—

अस्थित्यनेकसंभुक्तेऽदर्पे दर्पे सकृन्मुहुः ।

कल्याणं मासिकं छेदः क्रमान्मूलं प्रकाशतः ॥

अर्थ—व्याधिवश, एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका कल्याण प्रायश्चित्त और बार बार बैठकर भोजन करने, अनेक बार भोजन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त है तथा सांगोंके देखते हुए अहंकारमें धर होकर एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका मग्न्याच्छेद प्रायश्चित्त और बार बार ऐसा करनेका मूल-पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है । भावार्थ—रोगवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार, स्थिति भोजन मत और एक भक्त मतका भंग करने पर उक्त प्रायश्चित्त है ॥ ७० ॥

समितीन्द्रियलोचेषु भूशयेऽदंतधर्पणे ।

कायोत्सर्गः सकृद्भूयः क्षमणं मूलमन्यतः ॥

तत्प्रतिष्ठा च कर्तव्याभावकारो पुनर्भवेत् ।
चतुर्विधं तपश्चापि पञ्चकल्याणमन्तिमं ॥ ७४ ॥

अर्थ—उन स्थान, मान भवग्रह आदि योगांसी पुनर्व्यवस्थापना भी करना चाहिए अर्थात् प्रापश्चित देकर फिर भी उन्हीं योगोंमें स्थापित करना चाहिए । तथा अश्रावकाश याग के भंग होनेपर आलोचना, प्रतिक्षण, उभय और स्थान-विभेद और गणविभेद एवं दानों तरहका विवेक प्रापश्चित है । और पुष्पदन्त, निर्विकृति, परस्थान, आचाम्य, उपवास, कल्याण, बेवा, नेना, चीना, पचीना आदि धेकर अन्तिम पंच कल्याण पर्यन्तका तप प्रापश्चित भी है ॥ ७४ ॥

सकृदप्राप्तुकामेवेऽमकृन्मोहादहंकृतेः ।
क्षमणं पञ्चकं मासः शोपस्थानं च मूलकं ॥

अर्थ—अज्ञानवश प्रसन्न स्थार आदि जीवोंमें व्याप्त वस-तिका आदि प्रदेशोंमें एक बार निवास करने पर उपवास और बार बार निवास करने पर कल्याण प्रापश्चित है । तथा अहंकार वश एक बार निवास करनेपर प्रतिक्षण और पंचकल्याण प्रापश्चित और बार बार निवास करने पर मूलप्रापश्चित है ॥

आमादीनामजानानो यः कुर्यादुपदेशनं ।
जानन् धर्माय कल्याणं मासिकं मूलगः स्मये ॥

अर्थ—जो मुनि, ब्राम्ह, पुर, पर, वसति आदिके बनवानेमें

अष्टम (तीन उपवास) दशम (चार उपवास) द्वादश (पांच उपवास) अर्धमासोपवास, मासोपवास, पशुमासोपवास, संवत्सरोपवास आदि हैं उसके अनन्तर दिवसादिकके क्रमसे दीक्षाच्छेद है उसके अनन्तर सर्वोत्कृष्ट मूलप्रायश्चित्त है ॥७१॥

इस प्रकार मूलगुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त कहा गया अब उत्तर गुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त बताते हैं;—

हुमूलातोरणौ स्थासू आतापस्तद्व्यात्मकः ।
चलयोगा भवन्त्यन्ये योगाः सर्वेऽथवा स्थिराः ॥

अर्थ—वृत्तमूल और अनारण ये दो योग स्थिर योग हैं । आनापन योग चन और स्थिर दोनों तरहका है । और शेष अभ्यासकाश, स्थान, मौन और वीरासन ये चार योग चल योग हैं । अथवा सभी योग स्थिर योग हैं ॥ ७२ ॥

भंजने स्थिरयोगानामपस्कारादिकारणात् (?) ।
दिनमानोपवामाः स्युरन्येषामुपवासना ॥७३॥

अर्थ—नेत्र दर्द, पेट दर्द, शिरः गून, विशुचिका, सर्वापसंग राग, यन्त्र आदि कारणोंमें स्थिर योगोंका भंग हो जाए तो योग पूर्तिके जितने दिन अवशिष्ट रह गये हों उतने उपवास प्रायश्चित्त हैं । तथा अन्य स्थान, मौन, अग्रह आदि योगोंका भंग होनेपर आनापनाको आदि शेष प्रतिश्रमण गति द्वादशम पर्वत प्रायश्चित्त है ॥ ७३ ॥

दोषोंको न जानता हुआ उनके बनानेका उपदेश करता है वह कल्याण प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है । दोषोंको जानता हुआ उनके आरंभका उपदेश करता है वह पंचकल्याण प्रायश्चित्तका प्राप्ति है तथा गर्व-अहंकारमें नूर होकर जो ग्राम आदिका उपदेश करता है वह मूल प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

आलोचना तनूत्सर्गः पूजोद्देशोऽप्रबोधने ।

सोपस्थाना सकृद्देया क्षमा कल्याणकं मुहुः ॥

अर्थ—पूजा संबंधी आरंभके दोषोंको न जाननेवाले मुनि-को एकबार पूजाका उपदेश देने पर आरंभका परिमाण जान कर आलोचना अथवा कायात्सर्ग प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण सहित उपवास पर्यंत दे तथा बार बार पूजोपदेश दे तो कल्याणक प्रायश्चित्त दे । भावार्थ—जो मुनि पूजाके आरंभसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको नहीं जानता है वह यदि एकबार गृहस्थोंसे पूजाका आरंभ करावे तो उसे आरंभके अनुसार आलोचना अथवा कायात्सर्ग प्रायश्चित्तको आदि लेकर उपवास पर्यंत प्रायश्चित्त दे आर बारबार आरंभ करावे तो कल्याणक प्रायश्चित्त दे ॥

जाननम्यापि मंशुद्धिः सकृन्नामकृद्देव च ।

सोपस्थानं हि कल्याणं मामिकं मूलमावधे ॥

अर्थ—जो मुनि पूजाप्रभमे अन्य दोषोंको जानता हो वा यदि पूजाके आरंभका एक बार उपदेश दे तो उसके वा अन-

अथ—जीव-जन्तु रहित प्रदंशमें संयोगको न शोधकर सोये हुए अमपचा मुनिको कायोन्मगं प्रायश्चित्त और प्रपचा मुनिदा उपराम प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा जीव-जन्तुओंमें युक्त प्रदंशमें संयोगको न शोधकर सोये हुए अमपचा मुनिको उपराम और प्रपचाको दलयाग प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८३ ॥

लोहोपकरणे नष्टे स्यात् क्षमांगुलमानतः ।
केचिद्नांगुलेरुचुः कायोन्मगः परोपधौ ॥ ८४ ॥

अथ—गूँ, नहनी, लुरा आदि लोहकी चीजें नष्ट कर देने पर जितनी घांगुलरी व चीजें हों उतने उपराम प्रायश्चित्तमें देने चाहिए । कोई कोई आपाथ्य पनागमक शिवासे उक्त चीजोंके नाशका प्रायश्चित्त पतान १ अर्घात व बहने १ कि उत नाश किये गये मोहापकरणक जितन पनागुव हों उतने उपराम प्रायश्चित्तमें देने चाहिए । तथा रुधारा, पिन्डी, बघरगु आदि दुर्गन्धों पात्रों नाश कर देने पर कायोन्मगं प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८४ ॥

रूपाभिघातने चित्तदूषणे तनुमर्जने ।

स्वाध्यायस्य क्रियादानां वैवंभव निरुन्यते ॥ ८५ ॥

अर्थ—भिक्षा कागज आदि पर जाग्रत अनुष्ठान आदि प्रतिविरोधा नाश करने पर, विषयाभिलाष आदि हुए परि-क्षाधीन बहने पर, और स्वाध्याय क्रियाशी रहने करने पर कायोन्मगं प्रायश्चित्त देना ग्या है ॥ ८५ ॥

अर्थ—मुख धोने हुए साधुके मुखमें यदि जलकी घूंद चनी
लाय तो उसको आनाचना, कायोत्सर्ग, आर प्रतिक्रमण सहित
उपवास मार्पाश्च देना चाहिए ॥ ८६ ॥

आगंतुकाश्च वास्तव्या भिक्षाशय्योपधादिभिः ।
अन्योन्यागमनाद्यैश्च प्रवर्तते स्वशक्तिः ॥ ९० ॥

अर्थ—आगंतुक परगणमें आये हुए मुनि, और वास्तव्य-
अपने गणमें रहनेवाले मुनि, दोनों परस्परमें चर्चा, शयन,
भोजन, आपृच्छा, आनाचना, व्याख्यान, वात्सल्य, संभाषण
इत्यादि द्वारा तथा परस्पर एक दूसरेको देखकर जाना-आना,
विनय करना, खड़े होना इत्यादि द्वारा अपनी अपनी शक्तिके
अनुसार प्रवृत्ति करें ॥ ९० ॥

विधिमेवमतिक्रम्य प्रमादाद्यः प्रवर्तते ।
तस्मात् क्षेत्रादसौ वर्षमपनेयः प्रदुष्टधीः ॥ ९१ ॥

अर्थ—जा मुनि प्रमादके बशीभूत होकर उक्त विधानका
उल्लङ्घन कर अपनी प्रवृत्ति करें उस दृष्टिबुद्धि मुनिको उस
क्षेत्रसे वर्ष भरके लिए निकाल देना चाहिए ॥ ९१ ॥

शिलोदरादिके सूत्रमधीते प्रविलिख्य यः ।
चतुर्थांशेने तस्य प्रत्येकं दंडनं मतं ॥ ९२ ॥

अर्थ—पत्थरकी शिला, उदर, आदि शब्दसे भूमि, भुजा, जंघा
आदिके ऊपर शास्त्र लिखकर जो कोई मुनि अभ्यास करे

उनके घर पर औरोंके देखने हुए बारबार भोजन करनेवाला मुनि नियमसे पुनर्दीक्षा प्राप्यश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

चतुर्विधमद्याहारं देयं यः प्रतिपेधयेत् ।

प्रमादाद्दृष्टभावाच्च क्षमोपस्थानमामिके ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो मुनि, देनेयोग्य, अन्न, पान, स्वाद्य, स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारके आहारका भुजने निषेध करे तो उसके लिए उपवास प्राप्यश्चित्त और द्वे पञ्च निषेध करे तो प्रतिक्रमणपुत्रक पंचकल्याण प्राप्यश्चित्त है ॥ ६५ ॥

ज्ञानोपध्व्योपधं चाथ देयं यः प्रतिपेधयेत् ।

प्रमादेनापि ग्रासः स्यात् माध्वाग्राममथो मुहुः ॥

अर्थ—जो कोई मुनि, ज्ञानोपकरण पुस्तक अथवा औपध जो कि देनेयोग्य है उनका एक बार भी निषेध करे तो उसके लिए पंचकल्याण प्राप्यश्चित्त है और यदि साधुओंको देने योग्य वसति आदिका भी निषेध करे तो यही प्राप्यश्चित्त है ॥

चतुर्विधं कदाहारं तैलाम्लादि न वल्भते ।

आलोचना तनूत्सर्ग उपवासोऽस्य दंडनं ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो व्याधि आदि कारणोंके बिना भी देनेयोग्य चार प्रकारके कुत्सित आहारका अथवा तनूत्सर्ग आदिकों नहीं खाता है उसके लिए आलोचना कायात्मग और उपवास से प्राप्यश्चित्त है ॥ ९७ ॥

उसके लिए प्रतिग्रहणमार्ग उपवास प्रायश्चित्त है और वसन
निरोधन आदि चिकित्सा करने पर भी यही प्रायश्चित्त है ॥१००॥

चंडालसंकरे स्पृष्टे पृष्टे देहेऽपि मासिकं ।

तदेव द्विगुणं भुक्ते गोपस्थानं निगद्यते ॥१०१॥

अर्थ—चांदाल आदिसे मिलने पर तथा उनसे पापग्रह देह
मिटने पर भी पंचगव्याणां प्रायश्चित्त है । तथा बिना जाने
चांदाल आदिके हाथसे दिया हुआ भोजन भोजन पर अथवा
चांदालोंको देव देने पर भी भोजन करने या बही पूर्वोक्त
प्रायश्चित्त प्रतिग्रहणमार्ग दूना करा गया है चांदाल आदि-
प्रयोग सहित दो वर्ष वन्याण्यः प्रायश्चित्त है ॥ १०१ ॥

असंतं वाय संतं वा लायापातमजान्मुयान् ।

यत्र देशे न मोक्तव्यः प्रायश्चित्तं भवेदपि ॥

अर्थ—जिस देशमें अपमानविषय अथवा वातविषय अपमान-
को प्राप्त हो कर देह छोड़ देना चाहिए, यही प्रायश्चित्त है ।

भावार्थ—जिस देशमें अपमान हो कर अपमान पड़े तो गैर-
हीन हो या हीन हो अपमान प्राप्त हो देह छोड़ देना ही एतद्वि-
शेष प्रायश्चित्त है ॥ १०२ ॥

दोषानालोचितान् पापे यः साधुः समश्नादायेत् ।

मासिकं तस्य दातव्यं निश्चयोऽहं दंदनं ॥१०३॥

अर्थ—जो साधु साधु रूपसे निश्चय निश्चय हाथोंसे

त्रिषु वर्णेष्वेकतमः कल्याणांगः तपःसहो वयसा ।
सुमुखः कुत्सारहितः दीक्षाग्रहणे पुमान् योग्यः ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंमेंसे कोईसा भी एक मोक्षका अधिकारी है, वही वयस्क अनुमार तपश्चरण करने वाला सुन्दर और ग्लानिरहित दीक्षा ग्रहणके योग्य है ॥ १०६ ॥

न्यक्कुलानामचैलेकदीक्षादायी दिगम्बरः ।

जिनाज्ञाकोपनोऽनन्तमंसारः समुदाहृतः ॥ १०७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीनों वर्णोंसे बहिर्भूत नीच कुली—शूद्र आदिको सम्पूर्ण जगतमें प्रधानमूल निग्रन्थ-दीक्षा देनेवाला दिगम्बर साधु सर्वज्ञके वचनोंके प्रति-कूल है और अनन्तसंसारि है ॥ १०७ ॥

दीक्षां नीचकुलं जानन् गौरवाच्छिष्यमोदतः ।
यो ददात्यथ गृह्णाति धर्मोद्वाहो दयोरपि ॥

अर्थ—जो आचार्य, नीचकुल वाला जानकर भी उस नीच कुलीको श्रद्धाके गर्वमें अपना-शिष्य बनानेकी अभिनापासे दीक्षा देता है और जो नीचकुली निग्रन्थ दीक्षा लेता है उन दोनोंकी पराधर्मात् दूषित है ॥ १०८ ॥

अजानाने न दोषोऽस्ति ज्ञाते सति विवर्जयेत् ।
आचार्योऽपि स मोक्तव्यः माधुवर्गेरतोऽन्यथा ॥

अर्थ—जो कोई आचार्य नीच कुलीको नीच कुली न

कर दीक्षा देदे तो दोष नहीं परंतु जान लेने पर उसे छोड़ देना चाहिए यदि वह आचार्य उस नीच कुलीकी न छोड़े तो अन्य साधुओंको चाहिए कि वे उस नीच कुलीको दीक्षा देनेवाले आचार्यको भी छोड़ दें ॥ १०६ ॥

शिष्ये तस्मिन् परित्यक्ते देयो मासोऽस्य दंडनं ।
चांडालाभोज्यकारुणां दीक्षणे द्विगुणं च तत् ॥

अर्थ—उस अकुलीन शिष्यके छोड़ देने पर इस आचार्यको पंचकल्याण प्रार्थना देना चाहिए तथा मंगी चमार आदिको भी अभोज्य कारुणों—धोबी, बढ़वा, कमाच आदि को दीक्षा देने पर वह पूर्वोक्त पंचकल्याण प्रार्थना देना चाहिए ॥ ११० ॥

अनाभोगेन चेत्सूरिदोषमाप्नोति कुत्रचित् ।
अनाभोगेन तच्छेदो वैपरीत्याद्विपर्ययः ॥ १११ ॥

अर्थ—यदि आचार्य कहीं भी अमकारूपसे दोषको प्राप्त हो तो उसको अमकारूपमें ही प्रार्थना देना चाहिए और यदि प्रकारूपमें दोषका प्राप्त हो तो उसको प्रकारूपमें ही प्रार्थना देना चाहिए ॥ १११ ॥

क्षुल्लकानां च शेषाणां द्विगप्रभंशाने सति ।
तत्सकाशे पुनर्दीक्षा मूलात्पापं डिचेलिनाम् ॥

अर्थ—क्षुल्लक-मर्बन्टिया आदिकोंको भी द्विग प्रभंशाने सति तत्सकाशे पुनर्दीक्षा मूलात्पापं डिचेलिनाम्

हो उमीरों पाग फिर भी दीक्षा देना चाहिए, अन्य भावार्थों के
पाग नहीं। निम्नलिखित जिनमें रहित अन्यविगी, पिण्यादृष्टि
गृह्य और श्रावक इनका मूल (प्रारंभ) में हो दीक्षा है अतः
ये बाँट जहाँ दीक्षा में मकत है ॥ ११३ ॥

कुलीनक्षुद्रकृष्णैव मदा देयं महाव्रतं ।
महेश्वनोपस्तेषु गणैरेण गणेच्छुना ॥ ११३ ॥

अर्थ—गजानि विवादिना ग्रामणीमें ग्रामणसे, क्षत्रिया-
णीमें क्षत्रिय और वैश्य स्त्रीमें वैश्यमें उत्पन्न हुए पुरुषों को ही
मान्यता और पितृपुत्र ये दोनोंकुल विरुद्ध है अतः इन
विरुद्ध उभय कुलोंमें उत्पन्न हुआ क्षुद्रकृष्ण निम्न किष्कण
आदि कारणोंके वर क्षुद्रकृष्ण धारण कर रक्त्वा हो वह
महाविष्णु करनेमें तय हो तब उसे निम्न दीक्षा देना
चाहिए। परंतु जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके विरुद्ध उभय-
कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है उस क्षुद्रकृष्ण को कभी भी निम्न
दीक्षा नहीं देना चाहिए ॥ ११३ ॥

इस तरह श्रुति प्रायश्चित्त पृण हुआ अतः आर्थिकाओंका
प्रायश्चित्त बताते हैं:-

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च ।
दिनस्थानत्रिकालेन प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥

अर्थ—जो प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कहा गया है वैसा
ही आर्थिकाओंके लिए कहा गया है, विशेष इतना है कि

प्रतिमा, त्रिकालयोग चकारसे अथवा ग्रन्थान्तरोंके अनुसार पर्यायच्छेद, मूलस्थान, तथा परिहार ये प्रायश्चित्त भी आर्थिकाओंके लिए नहीं हैं ॥ ११४ ॥

समाचारसमुद्दिष्टविशेषप्रशने पुनः ।

स्थैर्यास्थैर्यप्रमादेषु दर्पतः सकृन्मुहुः ॥ ११५ ॥

अर्थ—बिना प्रयोजन पर घर जाना, अपने स्थानमें या पर स्थानमें रोना, वस्त्रकोंको स्नान कराना, उन्हें भोजन-पान कराना, भोजन बनाना, छद्म प्रकारका आरंभ करना आदि जो विशेष कथन समाचार क्रियामें आर्थिकाओंके लिए किया गया है उसका स्थिर, अस्थिर, प्रमाद और अहंकारवश एक बार और बहु बार भंग करने पर नीचे लिखा प्रायश्चित्त है ।
भावार्थ—स्थिर और अस्थिर आर्थिकाओंके प्रमादवश और अहंकारवश एक बार और बार बार समाचार क्रियामें दोष लगने पर क्रमसे नीचे लिखा प्रायश्चित्त है ॥ ११५ ॥

कायोत्सर्गः क्षमा क्षांतिः पंचकं पंचकं क्रमात् ।

पष्टं पष्टं ततो मूलं देयं दक्षगणेशिना ॥ ११६ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त देनेमें चतुर आचार्य, स्थिर आर्थिकाको प्रमादवश एक बार समाचार क्रियामें दोष लगाने पर कायोत्सर्ग और बार बार दोष लगाने पर उपराम प्रायश्चित्त दे, दर्पवश एक बार दोष लगाने पर उपवास और बार बार दोष लगाने पर कल्याण प्रायश्चित्त दे, और अस्थिर आर्थिकाको

तारुण्यं च पुनः स्त्रीणां षष्टिवर्षाण्यनूदितं ।

तावन्तमपि ताः कालं रक्षणीयाः प्रयत्नतः ॥

अर्थ—स्त्रियों की यौवनावस्था साठ वर्ष तक की कही गई है इस लिए साठ वर्ष तक प्रयत्नपूर्वक आयुकायों की रक्षा करना चाहिए ॥ १२० ॥

दर्येण संयुताथार्या विधत्ते दंतधावनं ।

रसानां स्यात् परित्यागश्चतुर्मासानमंशयं ॥

अर्थ—यदि जा कोई भी आयुष्य अष्टवारिक पक्षीभूत होकर दंतधावन करें तो उसके लिए चार महीने तक रसों का परित्याग प्रायश्चित्त है ॥ १२० ॥

अग्रहमंयुता क्षिप्रमपनेयापि दंशतः ।

सा विशुद्धिर्विद्विर्भूता कुलधर्मविनाशिनः ॥

अर्थ—अंशुताचरण कर मयुक्त आयुष्यों की पीर हो लेने के बाद निराश्रय होना चाहिए । ऐसी आयुष्य प्रायश्चित्त से रहित है अर्थात् उनके लिए कोई भी शुद्धि उपाय नहीं है और वह गुरुद्वय तथा जिनजायनर विनाश करनेवाली है ॥ १२१ ॥

तद्दोषभेदवादोऽपि पंडितानां न कल्पते ।

अन्योक्तं लक्षणीयं न तत्प्रहेयं प्रयत्नतः ॥ १२५ ॥

अर्थ—गण्यग्रणी पुण्यादि चाहिए कि वे पुरोक्त संघ-संबंधी दोषों की किसी भी गणने न करें और दूसरे लोग

मो इसके दोष नहीं ग्रहण करता है इस प्रकार अच्छी तरह जान
मे ॥ १२८ ॥

शपथं कारयित्वाथ क्रियामपि विशेषतः ।

बहूनि क्षमणान्यस्य देयानि गणधारिणा ॥ १२९ ॥

अर्थ—अनन्तर उसमें शपथ कराकर और विशेष विशेष
प्रतिक्रिया कराकर उसके बहुतसे उपवास प्रायश्चित्त दे ॥

द्रव्यं चेद्दस्तंगं किञ्चिद्बुध्भ्यो विनिवेदयेत् ।

तदास्याः पष्ठमुद्दिष्टं गोपस्थानं विशेषणं ॥

अर्थ—यदि आर्षिकाके आम साना, चांदी आदि कुछ भी
द्रव्य हो और वह उस द्रव्यको अपने बुध्भोंको देवे तो उस
वक्त उसके लिए प्रतिक्रिया सहित पष्ठोपवास प्रायश्चित्त दे ॥

येन केनापि तद्द्रव्यं पुनर्द्रव्यं च किञ्चन ।

वैयावृत्यं प्रकर्तव्यं भवेत्तत्र प्रयत्नतः ॥ १३१ ॥

अर्थ—जिस किसी भी उपायमें कुछ भी द्रव्य आर्षिकाको
पिने तो उस द्रव्यमें घमपाणियोंका प्रयत्नपूर्वक उपकार करना
चाहिए । यही उसके लिए प्रायश्चित्त है ॥ १३१ ॥

आतरं पितरं मुक्त्वा चान्येनापि मधमेणा ।

स्थानगत्यादिकं कुर्यात् सधर्मा छेदभागपि ॥

अर्थ—पिता और माईको छोड़कर, यदि आर्षिका अन्य
गुरुको जाने दीजिये साधर्मी गुरुभाईके साथ भी कापोत्सर्ग,

अर्थ—रजस्वनाके समय आधिका समता, स्तव, वन्दना, निवेदन, प्रसादयान और कायोत्सग इन छह आवश्यक क्रियाओंको मानपूर्वक कर और शुद्ध हो जानेंके पश्चात् गुरुके समीप जाकर व्रत ग्रहण करें ॥ १३५ ॥

स्नानं हि त्रिविधं प्रोक्तं तोयतो व्रतमंत्रतः ।
तोयेन स्याद् गृहस्थानां साधूनां व्रतमंत्रतः ॥

अर्थ—स्नान तीन प्रकारका कहा गया है जनस्नान, व्रत-स्नान और मंत्रस्नान । जनस्नान गृहस्थ करते हैं तथा व्रतस्नान और मंत्रस्नान साधु करते हैं । व्रतस्नान और मंत्रस्नान यह साधुओंकी परमायें शुद्ध हैं । परन्तु चांदान आदिका स्पर्श हो जाने पर व्रतपानने हुए उनको जनमें भी व्यवहार शुद्धि करना चाहिए ॥ १३६ ॥

इस प्रकार आर्याओंका प्रायश्चित्त कहकर आर्वकोंका प्रायश्चित्त कहते हैं—

श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकाणां तदेव हि ।
द्वयोरपि त्रयाणां च पण्णामर्घार्थहानितः ॥ १३७ ॥

अर्थ—जो प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कह आये है वही क्रमसे दो, तीन और छह श्रावकोंके लिए आधा आधा है ।
भावार्थ—श्रावक ग्यारह तरहके होते हैं । उनमेंसे उद्दिष्ट सागी और अनुपातसागी इन दो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिये मुनिप्रायश्चित्तसे आधा प्रायश्चित्त है । परिग्रहसागी, भारंभसागी और ब्रह्मचारी इन तीन मध्यम श्रावकोंके लिए उत्कृष्ट श्रावकोंके

प्रायश्चित्तं आधा प्रायश्चित्तं है और दिवामेयुनत्यागी, सचिव
त्यागी, प्रोपधोपवास करनेवाला, सामायिक करनेवाला, वनिक
और दार्शनिक इन छह जयन्त्य श्रावकोंके लिए उन मध्यम तीन
श्रावकोंके प्रायश्चित्तमें आधा प्रायश्चित्त है ॥ १३७ ॥

केचिदाहुर्विशेषेण त्रिष्वप्येतेषु शोधनं ।

द्विभागोऽपि त्रिभागश्च चतुर्भागो यथाक्रमं ॥

अर्थ—कोई आचार्य इन तीनों तरहके श्रावकोंका प्रायश्चित्त
दूसरीही तरहसे कहने है । ये कहने हैं कि साधु प्रायश्चित्तने आधा
प्रायश्चित्त तो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए है । साधुके प्रायश्चित्तका
ही तीसरा हिस्सा प्रायश्चित्त मध्यम श्रावकोंके लिए है और
साधुके प्रायश्चित्तका ही चौथा हिस्सा प्रायश्चित्त जयन्त्य
श्रावकोंके लिए है ॥ १३८ ॥

पण्णां म्याच्छ्रवकाणां तु पंचपातकसंनिधौ ।

महामहो जिनैन्द्राणां विशेषेण विशोधनम् ॥

अर्थ—यद्यपि सभी श्रावकोंका प्रायश्चित्त ऊपर कह चुके हैं
तो भी छह जयन्त्य श्रावकोंका प्रायश्चित्त और भी विशेष है सोही
कहने है । गारुड, स्त्रीत्या, यालयान, श्रावकविनाश और श्रृण-
विघात ऐसे पांच पापोंके बल ज्ञान पर जयन्त्य श्रावकोंके लिए
जिन भगवान्का मरामद करना यह विशेष प्रायश्चित्त है ॥ १३९ ॥
आदायंते च पष्टं स्यात् क्षमणान्येकविंशतिः ।
प्रमादाद्भेदधे शुद्धिः कर्तव्या शल्यवर्जितैः ॥

का विद्या करने पर उपराग, मत्प अचोर्ष, स्वदारमनोष और परिग्रह परिमाणप्रवृत्ता भंग होने पर पट्ट प्रायश्चित्त, गुणव्रत और शिवाप्रवृत्ति क्षति पहुँचने पर उपवास प्रायश्चित्त तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें दोष लगने पर जिनपूजन प्रायश्चित्त होता है । भावार्थ—सब व्रतांति मर दाप पंसत्र हैं सा हो कहते हैं । अतिक्रम, व्यतिक्रम अतीचार, अनाचार और अभोग ये पाँच मूलदोष हैं इनका अर्थ जरद्वयन्यायसे कहते हैं । जरद्वय नाम घटे खेनका है । जेमे कोई एक बूटा खेन अच्छा हराभरा धान्यका खेन देख कर उस खेनकी छति (बाढ़) के पास खड़ा हुआ उस धान्यके खानेकी इच्छा करता है मो अतिक्रम है । फिर बाढ़के छंदमें मुख डालकर एक ग्राम लू पड़ जाँ उसकी इच्छा है सो व्यक्तिक्रम है फिर खेनकी बाढ़का उल्लंघ जाना अतीचार है फिर खेनमें जाकर एक ग्राम लेकर पुनः बापिप निकल आना अनाचार है तथा फिर मो खेनमें पुन कर निःशंक बयेष्ट मत्पण करना, खेनके मानिक द्वारा दंडमे पिटना आदि अभोग है । इसी प्रकार व्रतादिकोंमें सबकना आदिप । मत्पेक व्रतमें ये पाँच पाँच दोष पाये जा सकते हैं । ऊपर शारदयन और नीचे अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, अनाचार और अभोग इन पाँच दोषोंको रखना आदिप । इनकी संरष्टि यह है—

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५

सूत्र इन माहानिपातके अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, अनाचार और अभोग इस तरह मयन बद्धव्रतकी पंच उच्चारणा